प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय
मंत्री, सस्ता साहित्य मण्डल.
नई दिल्ली

पहली बार : १९५४
मूल्य
तीन रुपये

मुद्रक
उद्योगशाला प्रेस,
दिल्ली-६

प्रकाशकीय

प्रत्येक देश के इतिहास का अध्ययन बड़ा आवश्यक एवं उपयोगी होता है। उससे उन घटनाओं, संघर्षों तथा उथल-पुथल का पता चलता है, जिनसे गुजर कर उस देश ने अपने वर्तमान रूप को प्राप्त किया है। इस तरह वर्तमान को समझने और भविष्य का निर्माण करने में प्राचीन इतिहास का ज्ञान विशेष रूप से सहायक होता है।

भारत का आज जो रूप दिखाई दे रहा है, उसके पीछे लम्बा इतिहास है। उसे जाने बिना कोई भी व्यक्ति अपने देश को नहीं समझ सकता और जब तक देश को समझेगा नहीं तब तक उसके नव-निर्माण में योग क्या देगा!

इस पुस्तक में लेखक ने पिछले १०० वर्षों के इतिहास की वह महत्त्वपूर्ण सामग्री संग्रहीत कर दी है, जिसने आज के भारत को जन्म दिया है। उन्होंने केवल राजनैतिक इतिहास ही नहीं लिया है अपितु उन सांस्कृतिक-धाराओं पर भी प्रकाश डाला है, जो चिरकाल से भारत की अपनी विशेषताएं रही हैं, और जिनके कारण आज भी हमारा देश विश्व के लिए आकर्षण का केन्द्र बना हुआ है। लेखक अनुभवी शिक्षक हैं, इसलिए उन्होंने बड़े परिश्रम पूर्वक प्रामाणिक रूप में सारी सामग्री जुटाई है और बहुत ही सरल भाषा एवं शैली में उसे प्रस्तुत किया है। हम कह सकते

हैं कि हिन्दी में अपने ढंग का यह पहला प्रयास है और इसमें लेखक को पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई है।

हम आशा करते हैं कि इस मूल्यवान पुस्तक का प्रत्येक भारतीय पाठक अध्ययन करेगा। युवकों तथा विद्यार्थियों के लिए तो इसका पठन-पाठन और भी आवश्यक है, क्योंकि देश का भविष्य उन्हीं पर निर्भर करता है।

—मंत्री

भूमिका

भारत के स्वतंत्र हो जाने के बाद राष्ट्र के नव-निर्माण का प्रश्न बड़ी तीव्रता से उत्पन्न हो रहा है। नव-निर्माण के माने केवल नई प्रणालियों का जन्म नहीं, बल्कि नवीन मानव या नवीन भारतीय का जन्म। आज का भारतीय जबतक अपने में काफी परिवर्तन नहीं कर लेता तबतक वह राष्ट्र की उन्नति के मार्ग पर नहीं बढ़ सकता। इस परिवर्तन के लिए भारतीय संस्कृति के प्राचीन आधारों को कायम रखते हुए नवीन स्तंभों पर नया भवन निर्माण करना होगा। दूसरे शब्दों में पश्चिमी जगत् के सम्पर्क से जो अच्छे विचार, अच्छी भावनाएं और अच्छी प्रणालियाँ हमारे जीवन में प्रवेश कर रही हैं, उनका अपनी प्राचीन संस्कृति की अच्छाइयों से समन्वय बैठाकर उन्हें आत्मसात् करना होगा। लेकिन यह काम तभी अच्छी तरह होगा जब हम अपने निकट के उस पिछले इतिहास से परिचित होंगे जिसने पिछले १०० वर्षों में भारतीय जीवन को अनेक प्रकार से प्रभावित किया है। प्रौढ़ के बनिस्बत तरुणों और विद्यार्थियों के लिए उसका ज्ञान अधिक आवश्यक है।

इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए एक ऐसी पुस्तक की आवश्यकता थी जो पिछले १०० वर्षों की राष्ट्रीय चेतना के विकास और प्रमुख घटनाओं का वृतान्त सरल भाषा में सही तौर पर दे सके। यद्यपि यह कार्य काफी बड़ा है और इस दिशा में अभी काफी खोज करनी है तथापि मुझे इस बात से प्रसन्नता है कि श्री बाबूराव जोशी ने काफी अध्ययन करके यह पुस्तक तैयार की है। श्री बाबूराव जोशी हिन्दी के उदीयमान लेखक और साहित्यकार हैं। पुस्तक भाषा की काफी सरल, रोचक तथा विषय के अनुरूप है। १०० वर्ष के इस इतिहास को तीन युगों में बाँटकर

प्रत्येक युग की मुख्य प्रवृत्तियों को समझने और समझाने का प्रयत्न किया गया है। कांग्रेस के अतिरिक्त जिन अन्य दलों ने इस दिशा में कार्य किया है उनके कार्यों को भी सहानुभूति से समझने और उनका मूल्य आंकने का प्रयत्न इस पुस्तक में है। इस काम में लेखक को अध्ययन और परिश्रम करना पड़ा है। हिन्दी में इस विषय की जितनी पुस्तकें हैं, आशा है, उनमें यह पुस्तक अपनी उपर्युक्त विशेषताओं के कारण पसन्द की जायगी और विद्यार्थी ही नहीं, प्रौढ़ भी इससे लाभ उठा कर राष्ट्र के जीवन-विकास में अपना सहयोग दे सकेंगे।

गांधी आश्रम,
हटूण्डी (अजमेर)

—हरिभाऊ उपाध्याय

आभार

'भारतीय नवजागरण का इतिहास' लिखने में लेखक को अनेक पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं से सहायता लेनी पड़ी है। उन सबका उल्लेख करना तो कठिन है, किंतु उनमें से कुछ प्रमुख पुस्तकों के नाम यहाँ नीचे दिये जारहे हैं। लेखक उनके लेखकों और प्रकाशकों के प्रति बड़ा आभारी है।

१.	कांग्रेस का इतिहास	डा० पट्टाभि सीतारामैया
२.	आत्म-कथा	गांधीजी
३.	मेरी कहानी	पं० जवाहरलाल नेहरू
४.	हिन्दुस्तान की कहानी	पं० जवाहरलाल नेहरू
५.	आत्मकथा	डा० राजेन्द्रप्रसाद
६.	गांधी विचार-दोहन	श्री किशोरलाल घ० मशरूवाला
७.	राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास	श्री मन्मथनाथ गुप्त
८.	भारतीय इतिहास की रुपरेखा	श्री जयचन्द्र विद्यालंकार
९.	आधुनिक भारत	आचार्य जावड़ेकर
१०.	भारतवर्ष और उसका स्वतन्त्र-संग्राम	श्री सुखसम्पतिराय भंडारी
११.	हमारा राजस्थान	श्री पृथ्वीसिंह मेहता
१२.	सत्याग्रह-मीमांसा	श्री रंगनाथ दिवाकर
१३.	भारतमें सशस्त्र क्रान्ति-चेष्टा का रोमांचकारी इतिहास	श्री मन्मथनाथ गुप्त
१४.	Indian Natioalist Movement & Thought	*Dr. V.P.S. Raghuvanshi*
१५.	Nation in Making	*Shri Surendranath Banerjee*
१६.	Indian Struggle	*Shri Subhash Chandra Bose*
१७.	How India wrought for Freedom	*Dr. Annie Besant*
१८.	Development of Indian Nationlism	*Prof. B.L.Sharma*
१९	भारतीय राजनीति के ८० वर्ष	श्री सी० वाई० चिंतामणि

—बाबूराव जोशी

विषय-सूची

भारतीय नव-जागरण
का
इतिहास

: १ :

राष्ट्रीयता की पृष्ठ-भूमि

राष्ट्रीयता और भारत

भारतवर्ष एक विशाल देश है। प्रकृति ने इसे अमूल्य वैभव प्रदान किया है। उसके हरे-भरे खेत, संपत्ति और खनिज से लदे हुए पहाड़, जल से भरी हुई नदियां तथा स्वास्थ्य-वर्धक जलवायु सभ्यता और संस्कृति के विकास में सहायक रहे हैं। वह एक विशाल महाद्वीप जैसा ही है, जिसमें अनेक प्रकार की बोलियां बोली जाती हैं, अनेक प्रकार की वेशभूषा दिखाई देती है, विभिन्न प्रकार का जलवायु है तथा अनेक प्रकार के धर्म और सम्प्रदाय हैं। लेकिन यह विशालता तथा विभिन्नता ही एक राष्ट्रीयता के पोषण में बाधक रही है। यह स्वीकार करना पड़ेगा कि भारत में सदैव छोटे-छोटे राज्य रहे जिनके कारण राष्ट्रीय-भावना का विकास नहीं हो सका। राष्ट्रीयता से हमारा मतलब उस राजनैतिक चेतना या देश-प्रेम से है जो किसी भी प्रदेश की जनता में समान रूप से होनी चाहिए। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि

भारत सदैव गुलाम रहा है। हमारा आशय यह है कि जिस अर्थ में आज राष्ट्रीयता का प्रयोग किया जाता है वह उस अर्थ में उस समय नहीं थी। लेकिन उसका स्वातंत्र्य-प्रेम बहुत पुराना है। जब-जब विदेशी सत्ता ने उसे दबाने का प्रयत्न किया तब-तब वह उसके विरुद्ध खड़ा हुआ है। सिकन्दर के आक्रमण से लेकर आजतक उसने कभी सिर झुका कर विदेशी शासन के जुए को स्वीकार नहीं किया और सदैव उसके विरुद्ध विद्रोह किया। जब देश में शक्तिशाली मुग़ल साम्राज्य दृढ़ हो गया तब भी देश में ऐसी शक्तियां थीं जो अपनी स्वतन्त्रता के लिए उससे लड़ती रहीं। अन्त में शिवाजी के नेतृत्व में महाराष्ट्र नवीन चेतना लेकर खड़ा हुआ और उसने मुग़ल साम्राज्य को छिन्न-भिन्न कर दिया। लेकिन एकता की कमी हमारी सबसे बड़ी कमज़ोरी रही है। अपनी शक्ति का संगठन करके हम कभी एकता से आगे नहीं बढ़ सके।

भारत कैसे जीता गया

जब अंग्रेज़ भारत आये तो हमारी आपसी फूट ही उनके यहां टिकने और राज्य बनाने में सहायक सिद्ध हुई। यहां आकर उन्होंने अपनी व्यापारिक कोठियां बनाईं और रक्षा के लिए थोड़ी फौज भी रखना प्रारंभ किया। इसके बाद उन्होंने देश के आपसी झगड़ों में दिलचस्पी ली और हिन्दू-मुस्लिम मनोवृत्ति का लाभ उठाया। सर जॉन सिली ने लिखा है : "अंग्रेज़ों के द्वारा भारत को जीतने की घटना एक देश द्वारा दूसरे देश को जीत कर पर-राष्ट्रीय राजनीति की मद में डाली जाने वाली बात नहीं थी बल्कि वास्तव में एक वर्ग के द्वारा दूसरे वर्ग को गिराने और एक वर्ग की सत्ता दूसरे वर्ग के हाथ में सौंप देने जैसी अन्तर्गत क्रान्ति थी।" अमीर-उमरावों के जुल्म से पीड़ित सेठ-साहूकारों ने धन से अंग्रेज़ों की बड़ी मदद की और मध्यम वर्ग के लोग उनकी फौज में भरती हुए। इस प्रकार भारत के पैसे से ही भारत की फौज अंग्रेज़ों के लिए लड़ी। दुख है उस समय हमारे देश में राष्ट्रीय चेतना नहीं थी। इधर अपने साम्राज्य विस्तार में अंग्रेज़ों ने चतुरता से काम लिया। उन्होंने प्रारंभ में कभी किसी बड़े राज्य पर आक्रमण करके प्रकट रूपसे उस पर अधिकार

करने का प्रयत्न नहीं किया। जहां उन्होंने आन्तरिक फूट देखी वहां किसी एक पक्ष की मदद की और उसे सत्ताधारी बना दिया। किसी जगह उन्होंने किसी अधीन राजा को अपने बड़े राजा के खिलाफ भड़का दिया और किसी जगह सरदार-सामन्तों को ही राजा के विरुद्ध खड़ा कर दिया। वर्ग-द्वेष भड़काकर मतलब साधने का तो उन्होंने खूब प्रयत्न किया। यही उनकी नीति थी। इसी भेद-नीति से उन्होंने राजाओं का बल कम किया और सारे भारत की सत्ता अपने हाथ में ले ली।

सन् १८५७ का विद्रोह

जब देश में अंग्रेजों का सार्वभौमत्व स्थापित होगया तो लोगों के सामने वस्तुस्थिति का चित्र आया। ग्वालियर, सतारा, धार, तंजोर इन्दौर, बड़ौदा, पूना, कोल्हापुर, नागपुर, बुन्देलखण्ड आदि बड़ी-बड़ी रियासतों की शक्ति काफी क्षीण होगई। इनमें कितनी ही रियासतों की बहुत कुछ स्वतन्त्रता छिन गई और कितनी ही रियासतें ज़मीदारियों की तरह रह गईं। जनता निःशस्त्र हो गई, व्यापार-धन्धा चौपट हो गया, नौकरियां चली गईं और देश का धन बड़ी तेजी से विदेश जाने लगा। इस स्थिति ने लोगों को चौंकाया। परिणामस्वरूप सन १८५७ में एक जबरदस्त विस्फोट हुआ। अनेक स्थानों पर सैनिकों ने विद्रोह कर दिया, बहुत से हिन्दू-मुसलमान नेता अपने-अपने ढंग से उसका नेतृत्व करने लगे लेकिन अंग्रेजों की सुनियन्त्रित शक्ति के सामने उनको हार खानी पड़ी। बड़े दुख की बात है कि जब देश में एक ओर विद्रोह की आग सुलग रही थी तब दूसरी ओर देश के बहुत से राजा-महाराजा, सेठ-साहूकार और जनता तटस्थता से यह सब देख रहे थे मानो इससे उनका कोई सम्बन्ध ही नहीं था। जैसे ही विद्रोह शान्त हुआ वे विजेताओं से जा मिले; इतना ही नहीं उनमें से बहुत ने विद्रोह को दबाने में सरकार की पूरी-पूरी मदद की। स्वतन्त्र राष्ट्र का निर्माण करने की शक्ति किसी में नहीं थी। राष्ट्रीयता के अभाव का इससे और बड़ा प्रमाण क्या हो सकता है? सर जॉन सिली ने लिखा है: "एक जाति के विरुद्ध दूसरी जाति को लड़ा कर ही बहुतांश में यह गदर मिटाया गया है। जब तक यहां के लोग सरकार की आलोचना करने और

उसके विरुद्ध बगावत करने के आदी नहीं होजाते तब तक इङ्गलैंड में बैठ कर हिन्दुस्तान में हुकूमत की जा सकती है।"

लेकिन आग अन्दर-ही-अन्दर सुलगती रही

अब विद्रोह दबा दिया गया और देश में अंग्रेजों का सार्वभौमत्व स्थापित हो गया। लेकिन युगों से जागरूक रहने वाली जनता की चेतना हमेशा के लिए लुप्त कैसे हो सकती थी? आग बुझाने का पूरा-पूरा प्रयत्न किया गया था। लेकिन थोड़ी बहुत चिनगारियां तो बच ही रहीं। अपनी प्रतिक्रियावादी नीति से शासन उनपर ईंधन डालता गया। अब हम उन्हीं बहुत-सी बातों पर प्रकाश डालेंगे जो अंग्रेजों के विरुद्ध लोगों के मन में शंका, अनादर और विरोध को पोषण देती रहीं। अंग्रेज तो अपनी विजय से मदान्ध, निश्चिन्त और भारतीय समस्याओं के प्रति लापरवाह हो गए थे। उन्होंने अपनी भेद-भरी प्रतिक्रियावादी नीति प्रारंभ की और अपने स्वार्थों की ओर ही ध्यान दिया। वे तो व्यापारी थे, व्यापार ही उनका प्रधान लक्ष्य था। अतः उनके शासन का भारतीय व्यापार पर जबरदस्त असर पड़ने लगा। अंग्रेज-व्यापारी भारतीय उद्योग-धन्धों को नष्ट करके अपना व्यापार चमकाने का प्रयत्न करने लगे। परिणाम यह हुआ कि भारतीय उद्योग-धन्धे और व्यापार नष्ट होने लगे जिससे बेकारी और गरीबी फैलने लगी। अंग्रेजी शासक भारतीय भावनाओं और परंपरा के प्रति उदासीन थे और अपनी मनमानी करते थे, जिससे भारतीय लोगों को ठेस पहुंचती थी। देश में अशिक्षा बढ़ती जा रही थी। कला-कौशल, कृषि, आबपाशी, और जनता के स्वास्थ के प्रति भी उसकी उपेक्षा थी। सरकार का खर्च इतना भारी-भरकम था और इतना रुपया विदेश जा रहा था कि वह देश की कमर तोड़ देने के लिए काफी था। अंग्रेजी शासन में नागरिक स्वतन्त्रता का भी अभाव था।

जातीय भेदभाव की नीति

भारत पर अंग्रेजों का सार्वभौमत्व स्थापित हो जाने का एक सीधा परिणाम यह हुआ कि अब वे उद्धत और घमण्डी बन गए और साम्राज्यवादी नीति क्रूरता पूर्ण रूप में प्रारंभ हो गई। पिछले विद्रोह ने दोनों ओर पारस्परिक अविश्वास और

कटुता को जन्म दिया था। अतः अब शासक और शासित जाति के बीच की खाई अधिक गहरी होने लगी। वैसे अंग्रेज पहले से ही अपने को ऊंचा और सभ्य मानते थे। काले आदमी उनके लिए घृणा के पात्र थे, विद्रोह ने उनकी घृणा की भावना और तीव्र कर दी। भारत सरकार की नौकरी में इङ्गलैंड की मध्यम श्रेणी के नवयुवक आते थे जो स्वभावतः उद्धत होते थे और काले भारतीयों से बड़ा बुरा व्यवहार करते थे। भारतीयों की मूर्ति-पूजा, रहन-सहन, आचार-विचार सभी उनके लिए मजाक और घृणा के विषय होते थे। उनका यह दुर्व्यवहार इस कोटि तक पहुंच गया था कि वे भारत के धनी-मानी और समाज में सम्मानित व्यक्तियों के प्रति भी ऐसा व्यवहार करते हुए हिचकिचाते नहीं थे। उनके क्लबों में भारतीयों के लिए जाना मना था और पहले दर्जे में सफर करते समय वे अनेक बार भारतीयों को धक्का देकर बाहर निकाल देते थे। १९वीं शताब्दि के अन्त तक यही हालत रही। छोटी-सी बात के लिए भारतीय को मार बैठना तो बड़ा आसान था। यदि कोई मुकदमा चलाता तो वह अंग्रेज जूरियों के सामने ही जाता और वे हमेशा उसीके पक्ष में फैसला देते। किसी भारतवासी को जान से मार डालना भी उनके लिए मामूली-सी बात थी। अंग्रेज अधिकारी मानो मदान्ध हो रहे थे। इस दुर्व्यवहार से सभी शिक्षित भारतवासी दुखी थे।

भारतीय उच्च-पदों से वंचित

पारस्परिक अविश्वास और कटुता का एक और परिणाम यह हुआ कि अच्छे-अच्छे विद्वान और कार्य-कुशल व्यक्ति भी शासन से दूर रखे गए। किसी भी महत्व-पूर्ण पद पर भारतीय नागरिक को रखना खतरनाक समझा गया। इसी-लिए माननीय गोपालकृष्ण गोखले ने कहा था कि अंग्रेज भारतीय जनता की योग्यता, कार्य-कुशलता, और बुद्धिमत्ता को नष्ट कर रहे हैं। सम्राट की सरकार के द्वारा दिये गए इस आश्वासन का बिलकुल पालन नहीं हो रहा था कि किसी व्यक्ति को किसी जाति या धर्म का होने के कारण किसी पद से वंचित रखा जायगा, और सबके साथ समानता का व्यवहार किया जायगा। लार्ड लिटन ने तो बिना हिचकिचाहट कह दिया

था कि पूरे करने की दृष्टि से ये आश्वासन नहीं दिये गए थे। उसने एक बार किसी को लिखा था, "हम सब जानते हैं कि ये अधिकार और आश्वासन कभी पूरे नहीं किये जा सकते।" जिन भारतीयों के हाथ में पहले सत्ता थी, महत्त्वपूर्ण पद थे, आज वे सब बेकार और उपेक्षित थे। यही कारण था कि भारतीयों की मांगें ही अधिक नौकरियां देने से प्रारंभ हुईं और आगे चलकर उसीने राजनैतिक आन्दोलन का रूप लिया।

भारतीय उद्योग-धन्धों का नाश

अंग्रेजों के पूर्व औद्योगिक दृष्टि से भारत काफी उन्नत था। उसका व्यापार काफी दूर-दूर तक फैला हुआ था। यूरोप, अफ्रिका, जापान आदि दूर-दूर के देशों में उसके माल की मांग रहा करती थी। उसका बारीक कपड़ा और अन्य बहुत-सी चीजें इङ्गलैंड भी जाती थीं और वहां का माल उसके मुकाबले में टिक नहीं पाता था। लेकिन अंग्रेजों के भारत आते ही ये व्यापारिक सम्बन्ध टूटने लगे और व्यापार लूट की सीमा पर पहुंचने लगा। इस व्यापारिक लूट से इङ्गलैंड को जो अपार धन-राशि मिली उससे उसकी औद्योगिक और वैज्ञानिक प्रगति बड़ी तेजी से हुई। विलियम डिगबी ने लिखा है कि प्लासी के युद्ध से लेकर वाटरलू के युद्ध तक अर्थात् सन् १७५७ से १८५७ तक सौ वर्ष में भारत से १५ अरब रुपया इङ्गलैंड पहुँचा। मार्क्स तथा अन्य कुछ लेखकों की राय है कि यदि यह रुपया इङ्गलैंड न पहुँचा होता तो निश्चित ही इङ्गलैंड में उद्योग-धन्धों की इतनी जबरदस्त प्रगति न हो पाती।

ईस्ट-इण्डिया कम्पनी एक व्यापारी कम्पनी थी। लेकिन उस समय इंग्लैंड के पास कोई ऐसा माल नहीं था जो वह भारत लाकर बेचता। भारत में वस्तुएं भेजने का व्यापार उस समय जबरदस्ती चलाया जा रहा था। इधर भारतीय-जुलाहों से माल जबरदस्ती वसूल किया जाता था। अरब तथा यूरोप के व्यापारी भारतीय माल के लिए ज्यादा रुपये देने को तैयार रहते थे लेकिन उन्हें वह माल नहीं बेचने दिया जाता था। इतना ही नहीं, माल लेने के लिए जुलाहों आदि पर अत्याचार किये जाते थे और इसके लिए नये-नये कानून बनाये जाते थे। जुर्माने, बेंत की सजा, जबरदस्ती प्रतिज्ञापत्र लिखवाना आदि साधारण-सी बातें बन गई थीं। इससे परे-

शान होकर कई लोगों ने अपने अंगूठे काट लिये, और कइयों ने तो यह धंधा ही छोड़ दिया।

इस समय तक तो केवल इतना ही होता था कि भारतीय माल सस्ते दामों में खरीदा जाता था लेकिन सार्वभौमत्व प्राप्त होने के बाद सरकार ने नई नीति का अवलम्बन किया। उसने अब सरकारी तौर से भारतीय उद्योग-धन्धों का गला घोंटना प्रारम्भ किया। भारत से कच्चा माल खरीदा जाने लगा और पक्का माल इङ्गलैंड से तैयार होकर आने लगा। प्रारम्भ में इसमें कुछ कठिनाई का सामना करना पड़ा क्योंकि मशीन का माल हाथ के माल का मुकाबला नहीं कर पाता था लेकिन कानून तो सरकार के पास था ही, उसने उसको प्रोत्साहन देना प्रारम्भ किया और उधर उसके गुण भी धीरे-धीरे बढ़ाये। परिणाम यह हुआ कि थोड़े ही दिनों में भारतीय माल निर्वासित हो गया और विदेशी माल ने देश पर कब्जा जमा लिया।

भारतीय उद्योग-धन्धों को नष्ट करने के लिए तथा इङ्गलैंड के माल को चलाने के लिए सरकार जो कुछ गुप्त रूप से कर रही थी उसपर यहां हम प्रकाश डाल रहे हैं। भारतीय व्यापार को मिटाकर अपना व्यापार चमकाने के लिए पार्लामेंट ने दो कमेटियां नियुक्त की थीं। इन कमेटियों ने खास-खास लोगों की गवाही लेकर निम्नलिखित बातें तय की थीं:

१. भारतीय व्यापारियों पर जिस तरह भी हो दबाव डालकर उनके व्यापार के रहस्य का पता लगाया जाय। उदाहरणार्थ, वे कैसे थान धोते हैं, किस प्रकार सुखाते हैं, किस प्रकार रंगते हैं, आदि। जब इन बातों का पूरा पता लग जाय तब इसकी जानकारी इङ्गलैंड के कारीगरों को दी जाय।

२. माल के चालान के लिए, महसूल सस्ता-से-सस्ता करने की दृष्टि से भारत में रेलों का विस्तार किया जाय।

३. भारतीय बाजारों पर इङ्गलैंड के व्यापार का एकाधिपत्य बनाए रहने के लिए ब्रिटिश-साम्राज्य को भारत में बढ़ाया जाय और भारत को इङ्गलैंड के अधीन रखा जाय।

४. इङ्गलैंड का माल नाममात्र के महसूल पर भारत भेजा जाय।

५. इङ्गलैंड में आने वाले भारतीय माल पर इतना अधिक महसूल लगाया जाय कि इङ्गलैंड में भारत का माल इङ्गलैंड के माल से सस्ता न बिक सके।

६. भारत में चुङ्गी की नीति ऐसी हो जिससे भारत का माल भारत में ही महंगा हो जाय तथा भारत का कच्चा माल इङ्गलैंड में सस्ता पहुंच सके।

७. अंग्रेज़ कारीगरों तथा व्यापारियों को भारत में जाकर वहां के व्यापार के रहस्य का पता लगाने के लिए आर्थिक सहायता तथा अन्य सुविधाएं दी जायं।

उपर्युक्त बातों से स्पष्ट है कि भारत का आर्थिक शोषण करने के लिए सरकार इस प्रकार के कुचक्रों की रचना कर रही थी। परिणाम स्पष्ट था। भारत का वस्त्र-उद्योग तो नष्ट हुआ ही, लोहा, चीनी, कागज़, जहाज़ आदि बनाने के धन्धे भी नष्ट हो गए। दिन-प्रति-दिन बेकारी बढ़ने लगी।

उद्योग-धन्धों के नष्ट होने का स्वाभाविक परिणाम था ग़रीबी।

गरीबी

अर्थशास्त्र के पंडित श्री दीनशा एदलजी वाचा ने कांग्रेस के दूसरे अधिवेशन में कहा था कि सन् १८४८ से देश की हालत निरन्तर गिरती जा रही है। देश में लगभग चार करोड़ व्यक्ति ऐसे हैं जिनको एक समय का खाना ही नसीब हो पाता है। पंजाब में सन् १८९१ में लगभग आधे किसान इसलिए तबाह हो गए कि वे साहूकारों के चंगुल में फँस गए थे। २०वीं शताब्दि के आरम्भ में यह हिसाब लगाया गया था कि भारत में सात करोड़ व्यक्ति भूखे रहते हैं। जो सरकार केवल अपने व्यापारिक हितों को ही प्रधानता दे रही थी और पूजीपतियों के शोषण का साधन बनी हुई थी, वह और क्या करती?

इस प्रकार जहां एक ओर आर्थिक शोषण के कारण ग़रीबी और बेकारी फैल रही थी और जनता त्रस्त थी, वहां दुर्भिक्षों ने उसकी

मुसीबत और बढ़ा दी। सन् १८०३ में बम्बई में दुर्भिक्ष पड़ा था और उसके बाद सन् १८३७ में मद्रास में। इनके अतिरिक्त पांच और दुर्भिक्ष इस बीच पड़े। इनमें १५ लाख आदमी मरे। इनके बाद सन् १८६१ में फिर उत्तर-पश्चिमी भाग में अकाल पड़ा। इसमें भी काफी नुक्सान हुआ। लेकिन पहले की तरह इस बार भाग्य को दोष देकर जनता चुप-चाप नहीं रही। इस बार उसने यह अनुभव किया कि ये दुर्भिक्ष ईश्वर-कृत नहीं, मनुष्य-कृत हैं। सन् १८७२ से लेकर सन् १८७६ तक बंगाल और बिहार में दुर्भिक्ष पड़ा और जनता में हाहाकार मच गया। इस बार लोगों की यह भावना और तीव्र हुई कि इसके लिए सरकार दोषी है और लोगों में असन्तोष और कटुता की भावना अधिक तीव्र होगई। जब एक ओर ये दुर्भिक्ष जनता को परेशान कर रहे थे, तब दूसरी ओर सन् १८७७ में दिल्ली में दरबार हुआ जिसमें पानी की तरह पैसा बहाया गया, और महारानी विक्टोरिया को सम्राज्ञी की पदवी से विभूषित किया गया। लोगों के मन पर इसका अच्छा असर नहीं हुआ। यदि यह पैसा अकाल-पीड़ितों की सहायता में खर्च किया जाता तो हज़ारों की जानें बच जातीं लेकिन सरकार का ध्यान इस तरफ कहां था? 'जब रोम जल रहा था, तब नीरो बांसुरी बजा रहा था' वाली कहावत के अनुसार सरकार निश्चिन्त थी। उसे लोगों की कुछ परवाह नहीं थी।

दुर्भिक्ष

लार्ड लिटन के शासनकाल में दूसरा अफ़गान-युद्ध प्रारम्भ हुआ। इसमें भी काफी पैसा खर्च हुआ और यह भी लोगों की आलोचना का विषय बना। लोग इतना तो जानने लगे थे कि उनके पैसे से दूसरे देश को गुलाम बनाने का प्रयत्न किया जारहा है लेकिन सरकार को इसकी चिन्ता कहां थी? उसने अस्त्र-कानून भी पास कर डाला जिसके अनुसार बिना लाइसेन्स बन्दूक, तमन्चा और तलवार रखने का निषेध कर दिया गया। विशेषता यह थी कि यह निषेधाज्ञा केवल भारतीयों के लिए थी।

अफ़गान युद्ध और अस्त्र-कानून

परिस्थिति यह थी कि एक ओर जनता में इन सब कारणों से असन्तोष

बढ़ता जारहा था दूसरी ओर सरकार उसे दबाने के लिए दमन का सहारा लेती जारही थी, लेकिन दमन से वह दब कैसे सकता ? अतः जब ग्लेडेस्टन की सरकार बनी तो उन्होंने भारतीय नीति की सार्वजनिक रूप से निन्दा की और लार्ड रिपन को वाइसराय बनाकर भेजा और कहा गया कि वह पुराना दृष्टिकोण बदल कर काम करें। लार्ड रिपन ने वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट उठा लिया। स्वायत्त शासन प्रारम्भ किया, किसानों को कुछ अधिकार दिये और इस प्रकार भारतीय जनता को सन्तुष्ट करने का प्रयत्न किया। लार्ड रिपन ने एक कदम और बढ़ाया। अब तक अंग्रेज़ अभियुक्तों पर भारतीय मजिस्ट्रेटों की अदालत में मुकदमे नहीं लगाये जा सकते थे; उन्होंने यह आदेश दिया कि इस सम्बन्ध में एक बिल बनाया जाय। यही बिल इलबर्ट बिल कहा जाता है। जब गोरों को इसकी जानकारी मिली तो वे बहुत बिगड़े। उन्होंने देशभर में जगह-जगह सभाएं करके इसका विरोध किया। परिणाम यह हुआ कि जिस रूपमें कानून बना था, उस रूपमें पास न होसका। इस घटना ने भी यह बात स्पष्ट कर दी कि सरकार भेदभावपूर्ण नीति को हटाने का प्रयत्न करके भी सफल नहीं होरही है। गोरे अधिकारी शासन पर छाये हुए हैं। वे जनता के हित की कोई बात नहीं होने देंगे। यही सब वे बातें थीं जिन्होंने राष्ट्रीयता की पृष्ठ-भूमि तैयार कर दी।

इलबर्ट बिल और गोरों में क्षोभ

: २ :

राष्ट्रीयता का उदय

इसमें कोई सन्देह नहीं कि सन् १८५७ का विद्रोह एक वीरतापूर्ण कार्य था लेकिन युद्ध-विज्ञान में जितनी प्रगति हो चुकी थी और अंग्रेज़ों ने जिस प्रकार अपनी स्थिति मजबूत बनाली थी, उससे यह स्पष्ट होगया था कि अब उन्हें शस्त्रों के बल से नहीं भगाया जा सकेगा। उसके लिए संगठन और एकता की ज़रूरत है। यदि उन्हें पराजित करना है तो उन्हीं के अस्त्रों का प्रयोग करना होगा।

राष्ट्रीयता का जन्म

लोगों में राष्ट्रीयता और प्रजातन्त्र की भावना भरनी होगी और पुराने हथियारों को छोड़कर इन्हीं का आश्रय लेना पड़ेगा। ऊपर कहा जा चुका है कि राष्ट्रीयता से हमारा मतलब जनसाधारण की उस राजनैतिक चेतना या देश-प्रेम से है जो किसी भी जाग्रत या उन्नत देश की जनता में होना चाहिए। जैसे-जैसे भारतीय समाज नये रंग-ढंग से प्रगति करता गया और उसके राजनैतिक एवं आर्थिक जीवन में एकता स्थापित होती गई, राष्ट्रीयता की शक्ति बढ़ती गई। जनता में प्रतिकार की भावना पैदा हुई और यह प्रतिकार की भावना जितनी तीव्र हुई उतना ही बल राष्ट्रीयता को मिला।

राष्ट्रीयता की ज्योति

राष्ट्रीयता की ज्योति सबसे पहले बंगाल में प्रज्वलित होती हुई दिखाई दी। प्रारम्भ में धार्मिकता का जामा पहन कर उसका उदय हुआ। बंगाल पर पश्चिम का प्रभाव अधिक पड़ा था और वहीं के लोग अंग्रेज़ों के सम्पर्क में भी अधिक आये थे। अतः पश्चिमी ज्ञान की नवीन ज्योति-प्राप्त बंगाली हिन्दू अपने आचार-विचार में परिवर्तन करके भारत का नव-निर्माण करने का प्रयत्न करने लगे। वे भारतीय समाज में सर्वाङ्गीण क्रान्ति करना चाहते थे और इसके लिए उनका यह दृढ़ विश्वास था कि सबसे पहले धार्मिक आचार-विचार में क्रान्ति होनी चाहिए। उन्होंने अपने मनमें यह क्रम बना रखा था कि पहले धार्मिक क्रांति हो फिर सामाजिक और अन्त में राजनैतिक। इसी बात को डा० भाण्डारकर ने इस प्रकार कहा था: "पहले आत्मा की उन्नति होनी चाहिए। क्योंकि आत्मिक उन्नति के बिना सामाजिक और राजनैतिक प्रगति संभव ही नहीं थी। उस समय के इन नेताओं के धार्मिक-विचार से मतभेद हो सकता है लेकिन यह बात निर्विवाद है कि क्रान्ति के लिए पहले समाज की आत्मा जाग्रत होनी चाहिए, उसके विचारों में क्रान्ति होनी चाहिए। यही कार्य बंगाल में राजा राममोहनराय ने प्रारम्भ किया।

राजा राममोहनराय और ब्रह्म-समाज

भारत में अंग्रेजी राज्य के पैर जमते ही ईसाई-धर्म का प्रचार भी प्रारम्भ हो गया था। जब तक सत्ता पूरी तरह उनके हाथ में नहीं आई थी तब तक वे धर्म-प्रचार में उतनी सख्ती नहीं करते थे जितनी सत्ता-प्राप्ति के बाद करने लगे।

अब ईसाई धर्म के प्रचारकों ने हिन्दूधर्म पर खुला हमला शुरू किया और वे खुलेआम उसकी आलोचना करने लगे। ऐसे समय राजा राममोहन राय आगे आये। उन्होंने अंग्रेजों को कहा : "ब्रिटिश सरकार ने अपनी यह नीति जाहिर की थी कि धर्म के सम्बन्ध में तटस्थता रखी जायगी। अतएव विजेता के धर्म का खुला प्रचार करने देना और पराजित लोगों के धर्म की खुली निन्दा होने देना इसके विरुद्ध है। दूसरे, हिन्दू और मुसलमान धर्मों के दोष-दर्शन के लिए व्याख्यान देना अथवा पत्र-पत्रिकाएं बांटना अनुचित है। तीसरे, भौतिक उन्नति का प्रलोभन देकर धर्म-परिवर्तन करना निंदनीय है। सरकार के बंगाली प्रजाजन दुर्बल और दरिद्र हैं, अंग्रेजों का नाम सुनते ही वे भयभीत हो जाते हैं। ऐसे लोगों पर राज-सत्ता की सहायता से सख्ती करना बिलकुल निंद्य है।" राजा राममोहनराय पहले व्यक्ति थे जिन्होंने पादरियों के धार्मिक आक्रमण के विरुद्ध आवाज उठाई। वे सूक्ष्म द्रष्टा भी थे। उन्होंने देखा कि हिन्दू धर्म में अनेक बुराइयाँ आगई हैं। जब तक उसमें सुधार नहीं होगा समाज और राष्ट्र का कल्याण नहीं होगा। अतः उन्होंने ब्रह्म समाज की स्थापना करके एकेश्वरी-धर्म का प्रचार करने का प्रयत्न किया। उन्होंने कहा कि सब धर्मों का अन्तरंग एक है। वह चाहते थे कि धर्मों के भेद मिटें और दुनिया में एक विश्व-धर्म का प्रचार और प्रसार हो। उनके मन में हिन्दू समाज के उद्धार की जबरदस्त इच्छा थी। ईश्वर की दया से उन्हें बड़ी निष्पक्ष और सर्व-ग्राहक बुद्धि मिली थी। उन्होंने उसका उपयोग इसी कार्य में किया। उन्होंने कहा कि हिन्दुओं का उद्धार वेदान्त के आधार पर, मुसलमानों का कुरान के सहारे और ईसाइयों का इंजील के सहारे किया जाय। इसके लिए प्रत्येक धर्म के एकेश्वरी-विचारों के लोग मिलजुलकर तत्त्वज्ञान का आदान-प्रदान करें। वह अनेक बातों में ईसाई और मुसलमान धर्मों की प्रशंसा करते थे। इसीलिए कुछ ईसाई उनसे ईसाई धर्म ग्रहण कर लेने की आशा रखते थे, लेकिन उनका यह मत था कि प्रत्येक धर्म का संशोधन उसी परंपरा के लोगों को करना चाहिए। वह अपने को एकेश्वरी हिन्दू ही मानते थे।

राजा राममोहन राय ने हिन्दू धर्म की सड़ी-गली प्रथाओं और आचार-

विचार पर भी आघात किया। उन्होंने ग्रन्थ-प्रामाण्य के विरुद्ध विद्रोह किया और बुद्धि-प्रामाण्य और अनुभव-प्रामाण्य पर जोर दिया। सती-प्रथा स्त्रियों की दासता की प्रतीक थी। अतः उन्होंने उसका विरोध किया। इसी प्रकार बहु-विवाह की प्रथा और कन्या-विक्रय जैसी कुप्रथाओं के विरुद्ध भी आवाज़ उठाई। वह नई युग की जाग्रति के अग्रदूत थे। सन् १८३१ में वह इंग्लैंड गये। वहाँ उनका काफ़ी सम्मान हुआ। उन्होंने वहाँ बोर्ड आफ़ कन्ट्रोल को एक मत-पत्रिका दी जिसमें हिन्दुस्तानियों को बड़ी-बड़ी नौकरियाँ देने, न्याय और शासन-विभाग को पृथक रखने, लगान कम कराने, किसानों को मौरूसी हक देने, सरकारी खर्च कम करने आदि बातों पर जोर दिया था। उनके बाद केशवचन्द्र सेन ने उनके काम को जारी रखा। वह एक बड़े प्रभावशाली धर्म-प्रचारक थे। उन्होंने इस मत का प्रचार बंगाल से बाहर भी किया और उसे देश के अन्य भागों में पहुँचाया।

प्रार्थना समाज

महाराष्ट्र में सुधार-आन्दोलन सन् १८४० के आस-पास प्रारम्भ हुआ। सन् १८३२ के आस-पास वहाँ 'दर्पण' नामक एक साप्ताहिक और 'दिग्दर्शन' नामक एक मासिक-पत्र प्रकाशित हुआ। इन पत्रों में शुद्धि, विधवा-विवाह, दलितोद्धार आदि का प्रचार किया गया। सन् १८६७ में बम्बई में प्रार्थना समाज की स्थापना हुई। इसके आचार्य थे न्यायमूर्त्ति रानडे और डा० भाण्डारकर। रानडे बड़े प्रभावशाली व्यक्ति थे। वह सर्वाङ्गीण सुधार चाहते थे। प्रार्थना समाज को वह हिन्दू धर्म का ही एक सुधारक पन्थ मानते थे। वह मानते थे कि ईश्वर सर्वव्यापक है और सब जगह समाया हुआ है। उनको अपने हिन्दू धर्म पर बड़ा अभिमान था। वह अवतारों को ईश्वर नहीं, पूज्य-विभूति मानते थे और मूर्त्ति-पूजा के विरुद्ध थे। प्रार्थना समाज का महाराष्ट्र के जीवन पर बड़ा प्रभाव पड़ा।

स्वामी दयानन्द और आर्यसमाज

यद्यपि ब्रह्म समाज और प्रार्थना समाज नई चेतना और नवीन जाग्रति के प्रतीक थे तथापि उनके सुधारवाद पर पश्चिम का असर था। उन्हें सरकारी प्रतिष्ठा भी प्राप्त थी। उनमें हमें हार की मनोवृत्ति का स्पष्ट दर्शन होता है। लेकिन

आर्यसमाज के रूप में अब एक ऐसी संस्था का जन्म हुआ जो पूरी तरह भारतीय थी। स्वामी दयानन्द ने सन् १८७५में बम्बई में आर्यसमाज की स्थापना की। शीघ्र ही उनके विचार उत्तर और पश्चिमी भारत में फैले और उनका चारों ओर स्वागत हुआ। स्वामीजी ने हिन्दू धर्म की खोई हुई आत्मा की शोध की और राष्ट्रीय-जीवन में शक्ति का संचार किया। स्वामीजी कहते थे कि वैदिक धर्म में ही पूर्ण सत्य है। शेष सब धर्म भ्रान्त हैं। हिन्दू धर्म को वह विश्व-धर्म मानते थे और कहते थे कि उसके द्वार समूची मानव जाति के लिए खुले हैं। वह सुधारों के जबरदस्त पक्षपाती थे। उन्होंने वेदाध्ययन, विधवा-विवाह, शुद्धि, हिन्दू संगठन आदि बातों पर बड़ा जोर दिया और हिन्दू धर्म की पुराण-पन्थी प्रथाओं और अन्ध-विश्वासों के विरुद्ध जोर की आवाज उठाई। उनके उपदेशों ने देश में आत्म-गौरव की भावना उत्पन्न की और लोगों के मन में अपनी प्राचीनता के प्रति आदर और अभिमान उत्पन्न किया। एक वीर योद्धा की तरह उन्होंने समूचे भारत की यात्रा की। जगह-जगह शास्त्रार्थ करके अपने विचारों की धूम मचा दी। आर्यसमाज धार्मिक एवं राष्ट्रीय पुनरुत्थान का आन्दोलन था। उसने भारत और हिन्दूजाति में नवजीवन का संचार किया। अंग्रेज अधिकारियों के लिए आर्यसमाज का आन्दोलन एक खतरनाक आन्दोलन था। वे समझते थे कि यह एक ऐसा राजनैतिक आन्दोलन है जो धार्मिकता का जामा पहन कर खड़ा हो रहा है। स्वामीजी ने ही सबसे पहले यह नारा लगाया था कि भारत भारतवासियों के लिए है।

स्वामी रामकृष्ण परमहंस

स्वामी रामकृष्ण परमहंस का जन्म सन् १८३४ में हुआ। वह उच्च-कोटि के सन्त थे। इस समय देश में विशेषकर बंगाल में आधुनिकता की अधिकता से जो अन्धकार-सा छा रहा था उसमें स्वामीजी का जीवन एक प्रकाशस्तंभ की भांति चमका और उसने शुद्ध हिन्दू धर्म पर बहुत अच्छा प्रकाश डाला। इनके शिष्य स्वामी विवेकानन्द ने अमरीका तक पहुँच कर अपने मत का प्रचार किया। उन्होंने कहा कि हिन्दू धर्म एक वैज्ञानिक धर्म है। प्राचीन भारतीय धर्म और संस्कृति में व्यक्ति और समाज दोनों को उन्नत बनाने

के तत्त्व मौजूद हैं। स्वामी विवेकानन्द ने १९वीं शताब्दि के अन्तिम भाग में चारों ओर अपने गुरू का सन्देश फैलाया। वह आधुनिक वेदान्त के देवदूत थे। उन्होंने कहा कि संसार मिथ्या या माया नहीं है। वह मनुष्य-जाति के विकास की एक सीढ़ी है। अमरीका में उन्हें जो प्रसिद्धि मिली उसका भारतीय युवकों पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि वह ज्ञान व्यर्थ है, जिसे क्रियात्मक रूप नहीं मिलता। उनके उपदेशों ने भारतवासियों के व्यर्थाभिमान पर काफी चोट की। वह कहते थे : "भारतवासियों को एक बार फिर विश्व-विजय करनी है। यह मेरे जीवन का स्वप्न है और मैं चाहता हूँ कि यही आप सबके जीवन का भी स्वप्न बने और आप उस समय तक चैन न लें जब तक कि वह स्वप्न पूरा न हो। अतः भारतवासियो उठो और अपनी आध्यात्मिकता से एक बार फिर विश्व को जीत लो।" स्वामी दयानन्द की भांति विवेकानन्द ने भी भारतवासियों में आत्म-विश्वास पैदा किया। रामकृष्ण मिशन इन्हीं आदर्शों पर काम करने वाली जाग्रत संस्था है।

थियॉसाफिकल सोसायटी

थियॉसाफिकल सोसायटी की स्थापना सन् १८८२ में अड्यार, मद्रास में हुई। यह सोसायटी सारे धर्मों के प्रति बन्धु-भावना से ओतप्रोत थी। इसके प्रचार का मूल-तत्त्व यह था कि धर्म ही राष्ट्रीयता को प्रेरणा दे सकता है। श्रीमती एनीबीसेन्ट सन् १८९३ में भारत आईं और उन्होंने सोसायटी के कार्यों में दिलचस्पी ली। इस आन्दोलन में प्राचीन भारतीय गौरव के प्रति आदर और उसके पुनरुज्जीवन की भावना के साथ-साथ विश्वव्यापी सहानुभूति और गहन अध्ययन की विशेषता भी थी। श्रीमती एनीबीसेन्ट संस्कृत साहित्य की बड़ी प्रशंसक थीं। उन्होंने प्रसिद्ध तीर्थस्थान काशी में एक कालेज खोला और विश्व-बन्धुत्व और भारतीय संस्कृति के उत्थान का नारा बुलन्द किया। थियॉसाफिकल आन्दोलन से भारतीय नव-जागरण को बल मिला।

इस प्रकार भारतीय इतिहास के उस युग में जब एक ओर अंग्रेज़ी-राज अपनी जड़ें जमा रहा था और दूसरी ओर शोषण, दुर्भिक्ष, फूट और सामाजिक कुप्रथाओं की शिकार भारतीय जनता कराह रही थी तो इन धार्मिक

सुधारों ने बड़ा काम किया। उस समय जो तत्त्व देश और समाज की प्रगति में बाधा डाल रहे थे इन सुधारों ने उन सबका प्रभाव कम किया और देश को प्रगति की ओर अग्रसर किया। ये सारे आन्दोलन समाज में महत्त्वपूर्ण सुधार करना चाहते थे। इन सबका दृष्टिकोण देशभक्ति पूर्ण था। इन सबने भारतीय आत्मा को जाग्रत करने का प्रयत्न किया। भारतीय जनता ने इनके मुँह से नवयुग की नई वाणी सुनी। इन्होंने लोगों के उदास और निराश मन में आत्म-विश्वास पैदा किया।

धार्मिक सुधारों की देन

ऊपर जिन धार्मिक आन्दोलनों का जिक्र किया गया है उन्होंने अप्रत्यक्ष रूप से लोगों में चेतना भरी। उनकी आत्मा को जाग्रत किया। लेकिन ऐसी भी बहुत-सी बातें हुई जिन्होंने प्रत्यक्षतः राष्ट्रीय-चेतना को जन्म दिया। इनमें पहली बात है—अंग्रेज़ी शासन का प्रभाव। अंग्रेज़ी शासन के प्रारम्भ के साथ पुरानी शासन-व्यवस्था का अन्त हो गया और एक नये युग का उदय हुआ। अपने शासन को मजबूत बनाने के लिए अंग्रेज़ों ने केन्द्रीकरण पर बहुत जोर दिया। समूचे देश में एक प्रकार के नियम लागू किये गए और एक ही प्रकार की शासन-व्यवस्था प्रारम्भ की गई। यद्यपि यह बात अंग्रेज़ी शासन को मजबूत बनाने के लिए की गई थी तथापि इससे राष्ट्रीयता के उदय में बड़ी सहायता मिली। इसने लोगों में एकता की भावना पैदा करने का काम किया। अंग्रेज़ों की राष्ट्रीयता की भावना तथा गोरों के अधिक पक्षपात की नीति ने भारतीय लोगों में इस एकता की भावना को तीव्रता प्रदान की। जनता स्पष्ट रूप से अनुभव करने लगी कि अब सब के हित में ही सबका हित और सबके अहित में सबका अहित समाया हुआ है।

अंग्रेज़ी शासन का प्रभाव

दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह हुई कि अब तक भारतीय लोगों के छोटे-छोटे राज्य सारे भारत में फैले हुए थे वे समाप्त होगए। अतः जो बहुत से विद्वान् और बुद्धिमान व्यक्ति पहले राजकाज में राजा की सहायता करते थे, बेकार होगए। बहुत से योद्धा और सामन्त भी बेकार होगए।

अंग्रेज़ सरकार सभी महत्वपूर्ण स्थानों पर अंग्रेज़ों की ही नियुक्ति कर रही थी। परिणाम यह हुआ कि ऐसे सब लोगों का ध्यान राष्ट्रीयता की ओर आकर्षित हुआ। वे ऐसी बातें सोचने-विचारने लगे जो अंग्रेज़ों के हितों के विरुद्ध थीं।

तीसरी महत्त्व की बात यह हुई कि सारे देश के एक शासन के अन्तर्गत आते ही देश में रेल, तार, डाक के द्वारा संवहन और संचार का मार्ग प्रशस्त होने लगा। अब एक स्थान से दूसरे स्थान पर सरलता पूर्वक समाचार भेजे जा सकते थे तथा कम समय में आया-जाया जासकता था। इससे देश में व्यापारिक हलचल भी बढ़ी। बीमा कम्पनी, बैंक, उद्योग-धन्धे तथा व्यापार ने समष्टिगत चेतना को उद्बोधित किया और राष्ट्रीय भावनाओं को बड़ा बल मिला।

पश्चिमी सभ्यता का प्रभाव

अंग्रेज़ी राज्य के साथ देश में अंग्रेज़ी भाषा आचुकी थी और उसका प्रभाव बढ़ता जारहा था। शासन की भाषा तो वह बन ही गई थी अब धीरे-धीरे उसे राष्ट्र-भाषा बनाने का प्रयत्न भी हो रहा था। अतः भारतीय लोगों के लिए उसका समझना आवश्यक-सा होगया। परिणाम यह हुआ कि भारतीय-जनता अंग्रेज़ी भाषा के साथ अंग्रेज़ी सभ्यता और विचार-धारा के सम्पर्क में भी आई। बर्क, मिल, हर्बर्टस्पेन्सर, मिल्टन, मेकाले, रुसो, वाल्टेयर आदि के विचार भारतीय मस्तिष्क में हलचल मचाने लगे, उनमें नई स्फूर्ति और चेतना भरने लगे। पश्चिमी देशों के इतिहास ने तो इस दिशा में और अधिक काम किया। यूरोपीय इतिहास की 'पिटीशन आफ़ राइट्स' 'बिल आफ़ राइट्स', 'ग्लोरियस रिवोल्यूशन' और 'सिविल वार' जैसी घटनाएं भारतीय युवकों के दिमाग में विद्रोह की भावना भरने लगीं। लोगों को यह विश्वास होने लगा कि यदि वे प्रयत्न करें तो वे अवश्य ही अपने अधिकार प्राप्त कर सकते हैं। देश के बड़े-बड़े नेता और विचारक एक दूसरे से मिलने-जुलने लगे थे और राजनैतिक समस्याओं पर विचार-विनिमय भी करने लगे थे। उनका यह मिलना-जुलना राष्ट्रीय चेतना के लिए लाभदायक सिद्ध होरहा था।

अपनी सांस्कृतिक विशेषताओं के प्रति सजगता

अंग्रेज़ी शासन के साथ-साथ भारत में ईसाईधर्म प्रचारकों का भी प्रवेश हुआ। मिशनरियां भी आईं। वे लोग शिक्षा-प्रसार तथा जन-कल्याण की ओट में भारतीय जनता को धर्म-परिवर्तनके लिए प्रोत्साहित करने लगे, परिणाम यह हुआ कि लोगों में हलचल मची, वे सजग होने लगे। दूसरी ओर जनता अपनी सांस्कृतिक व धार्मिक विशेषताओं की ओर भी उन्मुख हुई। उसे यह ध्यान होने लगा कि उसकी अपनी संस्कृति कोई बुरी या पिछड़ी हुई नहीं है। अतः उसमें उसके प्रति गौरव की भावना पैदा हुई।

समाचार-पत्र

इस समय तक समाचार-पत्र प्रकाशित होने लगे थे। भिन्न-भिन्न प्रांतों में अंग्रेज़ी तथा देशी भाषाओं के पत्र निकल रहे थे और उनकी संख्या दिन-प्रति-दिन बढ़ती जा रही थी। ये पत्र देश में फैले हुए असन्तोष को व्यक्त करते थे और राष्ट्रीयता का सन्देश देने लगे थे। 'अमृत बाजार पत्रिका', 'ट्रिब्यून', 'हिन्दू,' 'केसरी' आदि इस समय के प्रमुख पत्र थे। इन पत्रों पर सरकार की कड़ी नज़र थी। वह समय-समय पर कानूनी प्रहार करती रहती थी लेकिन जैसे-जैसे प्रहार तीव्र होता यह आवाज भी बुलन्द होती जाती थी, और वे अधिकाधिक सरकार-विरोधी बनते जाते थे। इन पत्रों के सम्पादक उस समय के बड़े-बड़े जननेता और विद्वान लोग थे। इनके विचारों का जनता पर बड़ा असर होता था। सन् १८७४ में वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट के द्वारा अंग्रेज़ी के अलावा अन्य भाषाओं के सारे पत्रों पर रोक लगा दी गई। कई अखबार बन्द होगए। 'अमृत बाजार पत्रिका' ने रात भर में अपने को बंगला से अंग्रेज़ी पत्र बना लिया। लेकिन इस कानून ने देश भर में बड़ी हलचल मचाई, पत्रों ने अपना सरकार-विरोधी आन्दोलन और तीव्र कर दिया। इस प्रकार ये पत्र भी राष्ट्रीयता के उदय और विकास की दिशा में बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य करने लगे।

: ३ :

संगठित आन्दोलन की ओर

प्रतिक्रियावादी शासन का परिणाम

श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने अपनी पुस्तक 'ए नेशन इन मेकिंग' में लिखा है : "अक्सर प्रतिक्रियादी शासक ही बड़े-बड़े जन-आन्दोलनों को जन्म देते हैं । इसमें कोई शक नहीं कि वे इस आरोप से इन्कार करेंगे और इस श्रेय को लेना पसन्द नहीं करेंगे लेकिन यह बात निश्चित है कि वे ऐसे बीज बोते हैं, जो समय बीतने पर जनमत के सिर सेहरा बांध देते हैं और जनता के प्रश्नों की विजय की दुंदुभि बजा देते हैं ।" उपर्युक्त उद्धरण में श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने जो कुछ कहा है, उसकी सत्यता इस काल का इतिहास बता रहा है । शासकों की प्रतिक्रियावादी नीति के कारण देश भर में किस प्रकार असन्तोष पैदा हो रहा था यह हम पहले अध्याय में देख चुके हैं । दूसरे अध्याय में उसके परिणामस्वरूप धार्मिक जामे में राष्ट्रीयता का उदय देखा । अब हम उन संगठनों का इतिहास देखेंगे जो देश को इन मुसीबतों से मुक्त करने के लिए समय-समय पर बने और बिगड़े । उनका बनना बिगड़ना हमारी राष्ट्रीयता के शिशु के चलना सीखने जैसा है जिसमें वह उठता है और एक-दो कदम चल कर फिर गिर पड़ता है ।

सन १८५६ से सन् १८७६ तक का समय

सन् १८५६ से सन् १८७६ तक बीस वर्ष का समय ऐसा है जिसमें कोई बड़ी और ध्यान खींचने वाली घटनाएं नहीं घटीं । इन दिनों ब्रिटिश शासन की गाड़ी प्रगति की सड़क पर बिना किसी रुकावट के चलती रही । इन दिनों शासन का पुनर्गठन हुआ ; शिक्षा-पद्धति और न्याय-विभाग में सुधार हुए और रेल, तार, सड़क आदि यातायात के साधनों का विकास हुआ । उद्योग-धन्धों की भी तरक्की हुई । सन् १८७२-७३ के पहले बम्बई प्रान्त में कपड़े की लगभग २० मिलें थीं । सन् १८७९-८० में यह संख्या बढ़ी और ५८ तक पहुँच गई । उस

समय उनमें लगभग ४० हजार व्यक्ति काम कर रहे थे। अब भारतीय उद्योग-धन्धे वैज्ञानिक प्रणाली से विकास करने लगे थे। लार्ड लिटन के शासन-काल तक भारतीय भाषाओं के समाचार-पत्रों ने भी अपनी प्रगति शुरू कर दी थी। उस समय देश में लगभग ४७८ पत्र निकल रहे थे जिनमें बहुत से देशी भाषाओं के पत्र थे।

प्रारंभिक काल के जन-संगठन

अब समाचार-पत्रों के प्रकाशन और शिक्षा के प्रसार के साथ-साथ जनमत बनना प्रारंभ हो रहा था। मध्यम वर्ग के पढ़े-लिखे और बुद्धिमान लोग सरकार के कार्यों की आलोचना करने लगे थे। सबसे पहले सन् १८२६ में राजा राममोहनराय ने पार्लामेंट में पास होने वाले जूरी एक्ट के विरुद्ध आन्दोलन प्रारंभ किया। उन्होंने सरकार के पास अनेक प्रार्थना-पत्र लोगों के हस्ताक्षर करवा कर भिजवाये। जूरी एक्ट के द्वारा भारतीय मजिस्ट्रेटों को ईसाई अभियुक्तों के मामलों पर विचार करने का अधिकार नहीं रहता था। अतः यह कानून रंग और धर्म का भेद पैदा करता था। यह पहला आन्दोलन था। संगठित रूप में जो संस्था सबसे पहले खड़ी हुई वह थी बंग-भाषा प्रकाशिका सभा। इस संस्था का जन्म बंगाल में हुआ था। इस संस्था के नाम से तो ऐसा लगता है मानो बंगला भाषा की उन्नति का कोई काम करने वाली ही यह संस्था थी लेकिन वास्तव में यह बात नहीं थी। उनके इस प्रकार के नामकरण का कारण यह था कि उस समय किसी भी राजनैतिक संस्था के लिए खुले आम कुछ कर सकना कठिन था। सन् १८३६ के अन्त में इस संस्था का जन्म हुआ। इसके संगठन-कर्त्ताओं में जितने भी व्यक्ति थे प्रायः सभी राजा राममोहन राय के विचारों से प्रभावित थे। इस संस्था के नियमों में एक नियम यह भी था कि सभा में धार्मिक विषयों पर चर्चा और और आलोचना न होगी। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह संस्था राजनैतिक थी। सरकार ने उन दिनों लगान से मुक्त चली आने वाली जमीन पर भी लगान लगाया। इस संस्था ने यह प्रश्न उठा लिया और इसके विरोध में एक सभा की। इस प्रकार के अन्य तत्कालीन प्रश्नों को

भी इस सभा ने उठाया। लेकिन दुर्भाग्य से यह धार्मिक दलबन्दियों का शिकार बन गई और कोई विशेष कार्य करने के पूर्व ही समाप्त हो गई।

वंग-भाषा प्रकाशिका सभा के दो वर्ष बाद ही सन् १८३८ में जमीदार सभा नामक एक संस्था का जन्म हुआ। इसके संस्थापक थे श्री द्वारकानाथ टेगोर। इस संस्था का लक्ष्य था जमीदारों के हितों की रक्षा और इसके कर्णधार भी धनी-मानी जमीदार लोग ही थे। फिर भी इसने किसानों के ऐसे हितों का भी समर्थन किया जिनसे जमीदारों के हितों का विरोध नहीं होता था। इस सभा का काम कुछ अधिक दिनों तक चलता रहा लेकिन केवल जमीदारों की ही संस्था होने के कारण वह अधिक व्यापक और लोकप्रिय न बन सकी। इन्हीं दिनों ज्ञानोपार्जिका सभा का जन्म हुआ। इस सभा के अधिवेशनों में इतिहास, साहित्य, राजनीति आदि विषयों पर चर्चा होती रहती थी। इसका स्वरूप राजनैतिक नहीं था। सन् १८४३ में, जब इस सभा का अधिवेशन हो रहा था, एक सज्जन ने एक ऐसा निबन्ध पढ़ा जिसमें सरकार की राजनैतिक कार्रवाइयों की कड़ी आलोचना थी। अधिवेशन हिन्दू कालेज-भवन में हो रहा था। कालेज के प्रिन्सीपल मि० रिचार्डसन भी वहाँ उपस्थित थे। सरकार की कड़ी आलोचना सुनकर वह बड़े बिगड़े। वक्ता महोदय को रोक कर बोले, "मैं इन बातों को सहन नहीं कर सकता। ये राजद्रोह की बातें हैं। इन्हें मैं यहाँ नहीं होने दूँगा!" सभापति थे श्री ताराचन्द्र चक्रवर्त्ती। प्रिन्सीपल की बातें सुनकर वह भी गरम हो गए। बोले, "आप बैठ जाइये, इस समय आप एक निमन्त्रित अतिथि हैं। आपको ऐसी बातें कहने का कोई अधिकार नहीं है। यह तो मेरा काम है कि मैं यहाँ ऐसी बातें होने दूँ या नहीं।" श्री ताराचन्द्र चक्रवर्त्ती ने प्रिन्सीपल से यह भी कहा कि उन्हें अपने ये शब्द वापिस लेने चाहिएं; नहीं तो वह इस मामले को आगे बढ़ाएंगे। मि० रिचार्डसन को अपने शब्द वापिस लेने पड़े। लेकिन यह सब उस युग के लिए एक बहुत बड़ी बात थी। मामला काफी बढ़ा। पत्रों में पक्ष-विपक्ष की कई बातें कहीं गईं। यद्यपि इस सम्बन्ध में कोई विशेष घटना नहीं घटी तथापि इससे लोगों में हलचल अवश्य मची।

ज्ञानोपार्जिका सभा

ज्ञानोपार्जिका सभा के सदस्यों ने इस बात को अनुभव किया कि सब जातियों के हितों की रक्षा करने के लिए एक नई संस्था का संगठन किया जाय । इस अनुभव से इन्हीं लोगों ने ब्रिटिश इन्डिया सोसायटी नामक एक संस्था का निर्माण किया । इस संस्था में भी प्रायः वे ही लोग थे जो ज्ञानोपार्जिका सभा में थे। लेकिन दुर्भाग्य से यह सभा भी ज्यादा दिनों तक नहीं टिक सकी।

ब्रिटिश इण्डियन असोसिएशन तथा अन्य संस्थाएं

ब्रिटिश इण्डिया सोसायटी के समाप्त हो जाने पर फिर अच्छी संस्था की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी । परिणाम-स्वरूप सन् १८५१ में 'ब्रिटिश इंडियन असोसिएशन' नामक एक संस्था की स्थापना हुई । इसकी पहली विशेषता यह थी कि इस संस्था का सदस्य कोई अंग्रेज नहीं था । दूसरी विशेषता यह थी कि यह केवल बंगाल तक ही सीमित नहीं थी, इसका कार्य-क्षेत्र अखिल भारतीय था। इस असोसिएयन ने एक प्रार्थना-पत्र तैयार किया और पार्लामेंट के सामने अपनी मांगे रखीं, जिसमें मालगुजारी कम करने, भारतीयों को बड़ी-बड़ी नौकरियां देने, व्यापारिक सुविधाएं देने तथा उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन देने की बातें कही गई थीं। यद्यपि ये मांगें स्वीकृत नहीं हुई तथापि इस प्रार्थना का थोड़ा असर अवश्य हुआ। मद्रास में इस संस्था की एक शाखा खुली थी। बम्बई में इसकी कोई शाखा तो नहीं खुली लेकिन वहाँ एक स्वतन्त्र संस्था कायम हुई—'बाम्बे असोसिएशन'। इसके संस्थापक थे दादाभाई नौरोजी और श्री जगन्नाथ शंकर सेठ। इन्हीं दिनों महाराष्ट्र में भी 'सार्वजनिक सभा' का जन्म हुआ, जिसके नेता रायबहादुर नजकर तथा श्री चिपलूनकर थे। न्यायमूर्त्ति रानडे इसके संस्थापक थे।

हिन्दू मेला

सन् १८६१ में मेदिनीपुर में 'जातीय गौरव संपादनीय सभा' के नाम से एक संस्था की स्थापना हुई । ६ वर्ष बाद यह संस्था 'हिन्दू मेला' में परिणित होगई। सन् १८६६ के चैत्र मास में पहली बार यह मेला लगा। इस अवसर पर एक

प्रदर्शनी का आयोजन और व्यायाम का भी प्रदर्शन किया गया। इटली में चलने वाले राष्ट्रीय आन्दोलन का असर इस संस्था के सदस्यों पर स्पष्ट रूप से दिखाई देता था। इस संस्था के सदस्य अंग्रेजी शब्दों के स्थान पर हिन्दी और बंगाली शब्दों का प्रयोग करते थे। वे 'गुड मार्निंग' के बजाय 'सुप्रात' कहते थे और उसके जो सदस्य इस नियम की अवहेलना कर अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग कर देते थे, उनके ऊपर एक पैसा प्रति शब्द के हिसाब से जुर्माना किया जाता था। यद्यपि यह एक सांप्रदायिक संस्था थी तथापि इसमें बहुत से राष्ट्रीयता के तत्व भी दिखाई देते थे। यह मेला प्रति वर्ष लगने लगा। इसके साथ-साथ प्रत्येक ग्राम में अपना-अपना अलग हिन्दू मेला भी लगने लगा। विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी इन मेलों में भाग लिया था। उन्होंने सन् १८७७ में एक मेले में कविता पढ़ी थी। यह मेला सन् १८८० तक चलता रहा। इसमें ही सबसे पहले स्वदेशी वस्तुओं के उपयोग पर जोर दिया गया। इस संस्था के सदस्य ब्रिटिश इंडियन असोसिएशन के बड़े आलोचक थे। वे कहते थे कि वह तो राजाओं, जमीदारों तथा धनिकों की संस्था है। इसकी सबसे बड़ी कमी यह थी कि इस संस्था का कोई निश्चित कार्यक्रम नहीं था। परिणाम यह हुआ कि १८८० के बाद यह समाप्त होगई।

इण्डियन असोसिएशन

बंगाल में सन् १८७६ ई० में 'इण्डियन असोसिशएन' नामक एक संस्था की स्थापना हुई। श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी इस संस्था के प्राण थे। इसके मन्त्री थे श्री आनन्दमोहन वसु। यह संस्था पढ़े-लिखे मध्यमवर्ग के लोगों का प्रतिनिधित्व करने तथा सार्वजनिक कामों में उनकी दिलचस्पी पैदा करने के लिए बनाई गई थी। अपने इस उद्देश्य में वह बहुत कुछ सफल हुई। उसने मध्यमवर्ग को अपनी ओर आकर्षित किया और वह पढ़े-लिखे लोगों का केन्द्र बन गई। इस संस्था के संस्थापकों पर देशभक्त मेजिनी का बड़ा असर था। उस समय मेजिनी के विचारों की चारों तरफ उतनी ही धूम थी जितनी आजकल मार्क्स के विचारों की है। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने सारे देश में दौरा किया और जगह-जगह भाषण

दिये। उनके भाषणों का बड़ा असर हुआ। खासकर विद्यार्थी उससे बड़े प्रभावित हुए। इस संस्था की शाखाएं सारे देश में फैलने लगीं। वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट, इण्डियन सिविल सर्विस में उम्र का घटाया जाना, इलबर्ट बिल आदि के सम्बन्ध में जब-जब असन्तोष फैला तब-तब सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने देश का दौरा किया और उनके विरुद्ध काफी प्रचार किया। सन् १८८३ में जब वह 'बंगाली' नामक पत्र का सम्पादन कर रहे थे, अदालत के अपमान का एक मुकदमा उनके ऊपर चलाया गया। यह अभियोग एक लेख के संबंध में था, जिसमें उन्होंने एक अंग्रेज़ जज की आलोचना की थी। मुकदमे में उन्हें दो मास की कैद की सजा दी गई। जिस दिन मुकदमे का फैसला सुनाया गया उस दिन एक बहुत बड़ी भीड़ जलूस बना कर अदालत के बाहर आई थी। कलकत्ता विश्वविद्यालय के प्रधान-निर्माता सर आशुतोष मुखर्जी छात्रों का नेतृत्व कर रहे थे। जलूस में देशबन्धुदास भी थे। सजा के समाचार से देश भर में जितना जोश था उसकी कल्पना श्री आनन्दमोहन बसु के इन शब्दों से की जासकती है: "इस मौके पर जैसे अशुभ से शुभ का उद्भव हुआ वैसा कभी नहीं हुआ। इस मामले से सर्वत्र जितना क्रोध तथा क्षोभ का उद्रेक हुआ, विभिन्न प्रांतों में जिस प्रकार पारस्परिक प्रेम की भावना बढ़ी, जिस तरह एकता का प्रदर्शन हुआ वैसा कभी नहीं हुआ था।"

जब सुरेन्द्रनाथ बनर्जी जेल से छूटे तो चारों ओर उनका स्वागत हुआ और मानपत्र भेंट किये गए। विद्यार्थियों ने तो सिर पर चढ़ाकर उनका स्वागत किया। उन्होंने सैंकड़ों सभाओं में भाषण दिये। अपने भाषणों में वह जनता से पूछते थे: "आपमें से कौन गेरीवाल्डी और मेजिनी होगा?" उनके इस प्रश्न के उत्तर में सभी लोग कहते: "हम होंगे, हम होंगे।" किसी बड़े नेता के जेल जाने का यह पहला ही अवसर था। अतः इतना बड़ा सार्वजनिक स्वागत उचित ही था।

जब सुरेन्द्रनाथ सन् १८७७ के दिल्ली-दरबार में गये थे तथा उनके दिमाग में यह बात आई थी कि भारतीय समस्याओं पर विचार करने

के लिए भी एक अखिल भारतीय संस्था की आवश्यकता है। अन्य लोगों ने भी उस समय इस कमी को अनुभव किया था। लेकिन तत्काल यह बात कार्यरूप में परिणत न हो सकी। जब सुरेन्द्रनाथ जेल में थे तब लोगों ने इस कमी को बड़ी तीव्रता के साथ अनुभव किया। इण्डियन असोसिएशन इतना व्यापक न बन सकी थी। जेल से आने के बाद श्री सुरेन्द्रनाथ ने भी इस कमी को अति तीव्रता से अनुभव किया। अतः इण्डियन असोसिएशन के द्वारा इस प्रकार का कार्य प्रारम्भ किया गया। देश के बड़े-बड़े लोगों और संस्थाओं से पत्र-व्यवहार शुरू किया गया। यह प्रयत्न सफल हुआ। १८८३ के दिसम्बर मास में एक राष्ट्रीय कान्फ्रैंस बुलाई गई। इसका अधिवेशन तीन दिन तक हुआ। प्रत्येक दिन की कार्यवाही अलग-अलग सभापतियों के सभापतित्व में हुई। सिविल सर्विस में भारतीय और गोरों की बराबरी, धारा-सभा का निर्माण, शिल्प-शिक्षा के प्रोत्साहन, न्याय और कानून विभाग का पृथक्करण, आदि विषयों पर विचार किया गया और इस सम्बन्ध में सरकार के सामने मांगे रखी गईं। इस कांफ्रैंस के बाद श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने फिर देशभर का दौरा किया, सर्वत्र उनका स्वागत हुआ। उनका यह दौरा श्री काटन के शब्दों में "दिग्विजय जैसा था। उनके नाम से ही ढाका से लेकर मुल्तान तक के युवकों में जोश आजाता था" सन् १८८५ में राष्ट्रीय कांफ्रैंस का दूसरा अधिवेशन हुआ। यह अधिवेशन भी दिसम्बर मास में कलकत्ता में हुआ। इस बार इसमें अधिक प्रतिनिधि आये थे। इस बार भी तीन दिन तक विभिन्न सभापतियों की अध्यक्षता में तत्कालीन समस्याओं पर विचार होता रहा।

राष्ट्रीय कांफ्रैंस

ऊपर कहा जा चुका है कि इस युग में भारतीय युवकों पर देशभक्त मेजिनी के विचारों का बड़ा जबरदस्त असर हुआ था। स्वयं सुरेन्द्रनाथ भी अपने भाषणों में बड़े आदर से देशभक्त गेरीवाल्डी और मेजिनी का उल्लेख किया करते थे। इन विचारों का यह असर हुआ कि देश के लोगों में गुप्त समितियां बनाने के विचार आने लगे। रवीन्द्रनाथ ने अपनी आत्म-कथा में इस प्रकार की एक गुप्त

गुप्त समितियां

समिति का उल्लेख किया है। शिवनाथ शास्त्री के नेतृत्व में भी, सन् १८७७ में एक गुप्त समिति का निर्माण हुआ था। इन समितियों के सदस्य राजनैतिक स्वतन्त्रता के उपासक होते थे। उनके विचारों में प्रगतिशीलता होती थी, लेकिन एक तो उस समय इनकी संख्या बहुत कम थी, दूसरे उन्होंने कोई विशेष काम भी नहीं किया। बात यह थी कि अपने कार्य-क्रम का कोई स्पष्ट चित्र इन समितियों के सामने नहीं था। यदि ऐसा कोई कार्य-क्रम होता था तो उनमें इतना साहस नहीं था कि वे उसके लिए तैयार होते। कुछ भी हो, ये समितियां इस बात की द्योतक अवश्य थीं कि साधारण जन-समाज अंग्रेजों के विरुद्ध हो रहा था और उनसे मुक्ति पाने के लिए प्रयत्न कर रहा था।

प्रारंभिक संस्थाओं का महत्व

यद्यपि इनमें से बहुत-सी संस्थाएं ऐसी थीं जिन्होंने कोई उल्लेखनीय काम नहीं किया था तथापि इसमें कोई सन्देह नहीं कि सार्वजनिक जीवन के निर्माण में इन संस्थाओं ने योग दिया। जिस प्रकार अपने उद्गम स्थान के आसपास नदी का रूप बहुत ही छोटा होता है उसी प्रकार ये आन्दोलन बहुत छोटे रूप में थे। यद्यपि राष्ट्रीयता की धारा बहुत पतले और छिछले रूप में दिखाई देती थी तथापि आगे उसने जो विशाल रूप धारण किया उसका श्रेय इसी पतली धारा को है। इन संस्थाओं में जनहित के विभिन्न विषयों पर वाद-विवाद और चर्चा होती थी और राजनैतिक प्रश्नों की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया जाता था। ये संस्थाएं संगठित राजनैतिक आन्दोलन के लिए सामग्री तैयार कर रही थीं। ये संस्थाएं बहुधा स्थानीय थीं। इनमें प्रायः सभी का स्वरूप अखिल भारतीय नहीं था, जिनका था वह नाम-मात्रा का ही। अतः वह सारे देश के लिए कोई कार्यक्रम बना भी नहीं सकती थीं। उनमें प्रचार और संगठन कमी थी। लार्ड लिटन और रिपन के शासन-काल में अखिल भारतीय आन्दोलन प्रारम्भ हुए। इन दिनों इलबर्ट बिल और सिविल सर्विस के प्रश्नों ने, जिनका जिक्र हम पीछे कर आए हैं, लोगों में राष्ट्रीय चेतना भरी और राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रारम्भ हुआ।

: ४ :

कांग्रेस का जन्म

उन्नीसवीं सदी के अन्तिम भाग में देश की स्थिति बिगड़ते-बिगड़ते विद्रोह की सीमा पर पहुँच गई थी। किसानों की स्थिति बिगड़ रही थी और उद्योग-धन्धों के मिटने से जनता में गरीबी और बेकारी बढ़ती जा रही थी। अकाल और महामारी ने इस परेशानी को और भी ज्यादा बढ़ा दिया। इतने पर भी सरकार एक के बाद एक ऐसे कानून बनाती जा रही थी जो जले पर नमक छिड़कने का काम कर रहे थे। इधर शिक्षित-समाज भी असन्तुष्ट था। अतः कुछ विचारशील अंग्रेज अधिकारी जो, इन सब बातों से परिचित थे, चौंके और अंग्रेजी हुकूमत को बचाने की बात सोचने लगे। उन्होंने सोचा कि यदि यह आन्दोलन वैज्ञानिक मार्ग पर चलना प्रारंभ कर दे तो उससे सरकार को बड़ा लाभ होगा।

श्री ए०ओ० ह्यूम का पत्र

इस स्थिति से जो लोग चिन्तित थे उनमें श्री ए० ओ० ह्यूम प्रमुख थे। सन् १८८२ से वह इण्डियन सिविल सर्विस से रिटायर हो चुके थे और पेंशन लेकर शिमला में रह रहे थे। उनके मस्तिष्क में यह विचार आया कि हिन्दुस्तानियों की एक राष्ट्रीय-सभा बनाई जाय। इस विचार से प्रेरित होकर उन्होंने कलकत्ता विश्वविद्यालय के स्नातकों के नाम एक पत्र लिखा। यह पत्र बड़ा मार्मिक था। उन्होंने लिखा : "यदि देश के कुछ विचारशील और शिक्षित लोग भी अपने स्वार्थों से ऊपर उठकर देशहित का कोई काम नहीं कर सकते तब यह कहना पड़ेगा कि उनके साथ जो व्यवहार हो रहा है वह उचित ही है। यदि देश के चुने हुए लोग भी अधिकाधिक स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए नहीं लड़ सकते तो यह मानना पड़ेगा कि हम जो आपके मित्र हैं, गलती पर हैं। तब यह भी मानना पड़ेगा कि प्रगति की आशाएं नष्ट हो गई हैं

और भारत न वर्तमान सरकार से अधिक अच्छी सरकार चाहता है न उसके योग्य ही है। यदि यह बात ठीक है तो फिर आपको न कोई शिकायत करना चाहिए न आन्दोलन। और न यही कहना चाहिए कि आपको बन्धन में जकड़ दिया गया है। फिर मैं यह कहूँगा कि अंग्रेजों का शासक बनना उचित ही है। अतः आपको यह अनुभव करना चाहिए कि आत्म-बलिदान और निस्वार्थता ही सुख और स्वतन्त्रता के अचूक पथ-प्रदर्शक हैं।"

अपने पत्र में उन्होंने ५० ऐसे आदमियों की मांग की जो सच्चे, निस्वार्थ और नैतिक साहस रखने वाले हों। उन्होंने उनके सामने आदर्श रखा : "सभा का विधान जनतन्त्यात्मक हो। सभा के लोग व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं से परे हों और उनका यह मूल-मंत्र हो कि जो तुममें सब से बड़ा है उसीको अपना सेवक बनने दो।" उन्होंने इस सम्बन्ध में लार्ड डफरिन से बातचीत की। लार्ड डफरिन को यह योजना पसन्द आई और उन्होंने मिस्टर ह्यूम को इस दिशा में प्रोत्साहित किया।

श्री ह्यूम के इस पत्र और इस प्रयत्न से यह प्रकट होता है कि वह अंग्रेज़ होते हुए भी भारतीय जनता के सच्चे मित्र और हितैषी थे। देश की दुरवस्था से वह उतने ही चिन्तित थे जितना कोई एक भारतीय हो सकता था। उनकी बड़ी उत्कट इच्छा थी कि भारतीय जनता जल्दी ही जागे और अपने अधिकार प्राप्त करे। लेकिन वास्तव में बात ऐसी नहीं थी।

श्री उमेशचन्द्र बनर्जी और सर विलियम वेडरबर्न के मत

कांग्रेस के पहले सभापति श्री उमेशचन्द्र बनर्जी ने लिखा है : "बहुत से लोगों को यह बात बिलकुल नई मालूम होगी कि कांग्रेस का जन्म जिस तरह हुआ और जिस तरह वह तबसे अब तक चली आ रही है, वह वास्तव में लार्ड डफरिन का काम था। सन् १८८४ में मिस्टर ह्यूम के दिमाग में यह विचार आया कि बहुत ही अच्छा हो यदि देश के प्रमुख राजनीतिज्ञ हर साल इकट्ठा हो कर सामाजिक विषयों पर तर्क-वितर्क कर लिया करें तथा आपस में मित्रता का सम्बन्ध स्थापित करें। वह नहीं चाहते थे कि इन तर्कों में राजनीति भी आए।

लार्ड डफरिन ने इस मामले में बड़ी दिलचस्पी ली और इस प्रस्ताव पर कुछ दिनों तक बातचीत करने के बाद उन्होंने मिस्टर ह्यूम को बुलाकर कह दिया कि उनकी योजना बहुत सुन्दर है। लार्ड डफरिन ने यह कहा कि इस देश में उस तरह के लोग नहीं हैं जैसे इंग्लैंड की पार्लमेन्ट में विरोधी दल के लोग होते हैं। उन्होंने कहा कि उनके हक में भी और शासितों के हक में भी बहुत अच्छा होगा कि भारतीय राजनीतिज्ञ हर साल मिला करें और सरकार को यह बतलाया करें कि किन-किन मामलों में सरकार का राज्य-परिचालन त्रुटिपूर्ण है और कैसे इसको दूर किया जा सकता है। उन्होंने यह भी कहा कि इस प्रकार की जो संस्था हो उसका सभापतित्व स्थानीय गवर्नर न करे, क्योंकि संभव है गवर्नर के रहने के कारण वे लोग आजादी से बातचीत न कर सकें। श्री ह्यूम लार्ड डफरिन की बात मान गए और जब उन्होंने कलकत्ता, बम्बई, मद्रास तथा देश के अन्य भागों के राजनीतिज्ञों के सामने अपनी तथा लार्ड डफरिन की योजना रखी तो लोगों ने उसे पसन्द किया और वे इस पर अमल करने के लिए तैयार होगए। लार्ड डफरिन ने मि० ह्यूम से यह कह दिया था कि उनका नाम इस सम्बन्ध में जब तक वह भारत में हैं न लिया जाय।"

इस उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि कांग्रेस के जन्म में लार्ड डफरिन का बड़ा हाथ रहा है। लार्ड डफरिन उसे सामाजिक विषयों की चर्चा तक ही सीमित रखना चाहते थे। राजनैतिक दृष्टि से भारत को आगे बढ़ाने की कोई इच्छा उनके मन में नहीं थी। उन्होंने जो इस विषय में इतनी दिलचस्पी ली उसका कारण यही था कि वह जनता के मनोभावों से परिचित रहना चाहते थे और उन सारी आलोचनाओं को भी सुनना चाहते थे जो जनता में अन्दर-ही-अन्दर चलती रहती थीं।

सर विलियम वेडरबर्न का मत है कि श्री ह्यूम उन सब बातों से परिचित थे जो अन्दर-ही-अन्दर देश में होरही थीं। वह जानते थे कि यदि परिस्थिति नहीं सुधरी तो विद्रोह खड़ा होसकता है। जबतक श्री ह्यूम नौकरी पर रहे उन्होंने वस्तुस्थिति का गम्भीरता से अध्ययन किया।

उन्होंने देखा कि विदेशी अधिकारियों के द्वारा भारत में जो स्वेच्छाचारी शासन चल रहा है वह न तो जनता के मनोभावों को जानता है और न जानने का प्रयत्न ही कर रहा है। लेकिन यदि शासन को मजबूत बनाना है तो जनसंपर्क कायम करना ही होगा और लोगों की भावनाओं से भी परिचित होना पड़ेगा, नहीं तो पग-पग पर खतरे का सामना करना होगा। उन्होंने अनुभव किया कि शासक और शासितों के बीच की खाई बढ़ती जारही है। उन्होंने पुलिस की गुप्त रिपोर्टों को पढ़ा था और उससे उन सब गुप्त षड्यन्त्रों और खतरों का पता लगाया था जो देश में चल रहे थे और ग़रीबी एवं बेकारी के कारण वह जनता में तेजी से फैल रहे थे। लाला लाजपतराय ने भी यही बात लिखी है: "लेकिन एक बात स्पष्ट है, भारत को राजनैतिक स्वतन्त्रता दिलाने की अपेक्षा ब्रिटिश साम्राज्य को खतरे से बचाने की दृष्टि से ही बहुतांश में कांग्रेस को जन्म दिया गया था।"

गश्ती चिट्ठी

श्री ह्यूम के निमन्त्रण पर मार्च सन् १८८५ में एक सभा हुई, जिसमें यह तय हुआ कि बड़े दिनों की छुट्टियों में देश के सब प्रतिनिधियों की एक सभा की जाय। पूना इसके लिए सबसे अधिक उपयुक्त स्थान समझा गया। इस बैठक के लिए एक गश्ती चिट्ठी जारी की गई जिसमें कान्फ्रेंस के उद्देश्य इस प्रकार बताये गए थे: १. राष्ट्र की प्रगति में जी-जान से लगे हुए लोगों को एक दूसरे से परिचित करना; २. आगामी वर्ष जो राजनैतिक कार्य करने हैं, उनके सम्बन्ध में विचार करके निर्णय करना।

चिट्ठी में कहा गया था: "अप्रत्यक्ष रूप से यह परिषद् देशी पार्लामेंट की बीज रूप बनेगी और यदि सुचारु रूप से इसका काम चलता रहा तो थोड़े ही दिनों में यह इस आक्षेप का मुँहतोड़ जवाब होगी कि हिन्दुस्तानी किसी प्रतिनिधि मूलक संस्था के योग्य नहीं हैं। पहली कांफ्रेंस ही इस बात का फैसला करेगी कि अगली कांफ्रेंस भी पूना में ही होगी या ब्रिटिश असोसिएशन के ढंग पर अदल-बदल कर हर साल महत्वपूर्ण केन्द्रों में

हुआ करेगी।"

जब अधिवेशन का समय निकट आया तब पूना में हैजा फैल गया। अतः यह ठीक समझा गया कि अधिवेशन पूना की बजाय बम्बई में हो। जिन दिनों बम्बई में कांग्रेस का अधिवेशन प्रारम्भ हुआ उन्हीं दिनों कलकत्ता में राष्ट्रीय कांफ्रैंस का अधिवेशन, होरहा था जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। दो स्थानों पर इन दो अधिवेशनों का एक ही समय होना खटकता है और इससे भी ज्यादा खटकने वाली है श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी की अनुपस्थिति। श्री बनर्जी से अंग्रेज सख्त नाराज थे। अतः सम्भव है श्री ह्यूम उनकी उपस्थिति से कांग्रेस को बचाना चाहते हों। फिर भी यह संतोष का विषय है कि ऐसा कोई स्पष्ट प्रयत्न नहीं हुआ जिससे यह प्रगट हो कि यह सब जान-बूझ कर किया गया है। राष्ट्रीय कांफ्रैंस ने अपने अंतिम दिन के सम्मेलन में कांग्रेस अधिवेशन के लिए अपनी सहानुभूति का संदेश भेजा। बाद में तो श्री बनर्जी अपने दल के साथ कांग्रेस में मिल गए।

श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी की अनुपस्थिति

२७ दिसम्बर सन् १८८५ को कांग्रेस का पहला अधिवेशन बम्बई में शुरू हुआ। इसका बड़ा ही रोचक वर्णन श्री एनीबीसेंट ने अपनी पुस्तक "How India Wrought for Freedom" में इस प्रकार किया है: "पूना में पहला अधिवेशन न हो सका क्योंकि बड़े दिन के पहले ही वहां हैजा फैल गया था। और यह ठीक समझा गया कि परिषद्, जिसे अब कांग्रेस कहते हैं, बम्बई में किया जाय। गोकुलदास तेजपाल संस्कृत कालेज और छात्रावास के व्यवस्थापकों ने अपने विशाल भवन कांग्रेस के हवाले कर दिए और २७ सितम्बर की सुबह तक भारतीय राष्ट्र के प्रतिनिधियों का स्वागत करने की पूरी तैयारी हो गई। जो व्यक्ति उस समय वहाँ उपस्थित थे उनकी नामावली पर एक निगाह डालते हैं तो हम देखते हैं कि इनमें से कितने ही आगे चलकर भारत की स्वाधीनता का प्रयत्न करते हुए बहुत प्रसिद्ध हो गए। जो सज्जन प्रतिनिधि नहीं बन सकते

अधिवेशन की कार्यवाही

थे उनमें थे सुधारक दीवान बहादुर आर० रघुनाथ राव डिप्टी कलक्टर, मद्रास; माननीय महोदय गोविंद रानडे कौंसिल के सदस्य और जज, स्माल कॉज कोर्ट पूना, जो आगे चलकर बम्बई हाईकोर्ट के जज हो गए ; और एक माननीय और विश्वसनीय नेता थे, लाला बैजनाथ आगरा, जो बाद को एक प्रख्यात विद्वान् और लेखक प्रसिद्ध हुए और अध्यापक के० सुन्दर रमण और रामकृष्ण गोपाल भाण्डारकर। प्रतिनिधियों में नामी पत्रों के सम्पादक थे : जैसे 'ज्ञान प्रकाश' जो पूना सार्वजनिक सभा का त्रैमासिक पत्र था, 'मराठा केसरी', 'नव विभाकर,, 'इण्डियन मिरर' 'नसीम', 'हिन्दुस्तानी', 'ट्रीब्यून', 'इण्डियन यूनियन', 'स्पेक्टेटर', 'इन्दु प्रकाश', 'हिन्दू', 'क्रेसेन्ट'। इनके अतिरिक्त नीचे लिखे माननीय और परिचित सज्जनों के नाम भी चमक रहे थे—ह्यूम साहब, शिमला ; उमेशचन्द्र बनर्जी और नरेन्द्रनाथ सेन कलकत्ता ; वामन सदाशिव आप्टे और गोपाल गणेश आगरकर पूना ; गंगाप्रसाद वर्मा लखनऊ ; दादाभाई नौरोजी; काशीनाथ त्र्यम्बक तैलंग ; फिरोजशाह मेहता, बम्बई कारपोरेशन के नेता दीनशा एदलजी वाचा, बहरामजी मलाबारी, नारायण गणेश चन्दावरकर, बम्बई ; पी० रंगैया नायडू, प्रेसीडेन्ट महाजन सभा, एस० सुब्रह्मण्य ऐयर, पी० आनन्द चार्लू, जी० सुब्रह्मण्य ऐयर, एम०वी० राघवाचार्य, मद्रास; पी० केशव पिल्ले, अनन्तपुर।

"२८ दिसम्बर १८८५ को दिन के १२ बजे गोकुलदास तेजपाल संस्कृत कालेज के भवन में कांग्रेस का पहला अधिवेशन हुआ। पहली आवाज सुनाई पड़ी ह्यूम साहब, माननीय एस० सुब्रह्मण्य ऐयर और मान० काशीनाथ त्र्यम्बक तैलंग की। ह्यूम साहब ने श्री उमेशचन्द्र बनर्जी के सभापतित्व का प्रस्ताव उपस्थित किया और शेष दोनों सज्जनों ने उसका समर्थन और अनुमोदन। वह एक बड़ा गम्भीर और ऐतिहासिक क्षण था, जिसमें मातृभूमि के द्वारा सम्मानित अनेक व्यक्तियों में प्रथम पुरुष ने प्रथम राष्ट्रीय महासभा के अध्यक्ष का स्थान ग्रहण किया।

"कांग्रेस की गुरुता की ओर प्रतिनिधियों का ध्यान दिलाते हुए

अध्यक्ष महोदय ने कांग्रेस के उद्देश्य इस तरह बतलाये

"क. साम्राज्य के भिन्न-भिन्न भागों में देश-हित के लिए लगन से काम करने वालों की आपस में घनिष्टता और मित्रता बढ़ाना।

ख. समस्त देश-प्रेमियों के अन्दर प्रत्यक्ष मैत्री-व्यवहार के द्वारा वंश, धर्म और प्रांत सम्बन्धी तमाम पूर्व दूषित संस्कारों को मिटाना और राष्ट्रीय ऐक्य की उन तमाम भावनाओं का, जो लार्ड रिपन के चिरस्मरणीय शासन-काल में उद्भूत हुईं, पोषण और परिवर्धन करना।

ग. महत्वपूर्ण और आवश्यक सामाजिक प्रश्नों पर भारत के शिक्षित लोगों में अच्छी तरह चर्चा होने के बाद जो परिपक्व सम्मतियाँ प्राप्त हों उनका प्रामाणिक संग्रह करना।

घ. उन तरीकों और दिशाओं का निर्णय करना जिनके द्वारा भारत के राजनीतिज्ञ देश-हित के कार्य करें।"

कांग्रेस के इस प्रथम अधिवेशन में नौ प्रस्ताव पास हुए। उनके द्वारा भारत की मांगों के बनने का प्रारम्भ होता है। पहले प्रस्ताव में यह मांग की गई कि भारत पर रायल कमीशन बैठाया जाय। इस कमीशन में भारतीय तथा अंग्रेज दोनों हों और वह इंग्लैंड तथा भारत दोनों जगह गवाही लेकर किसी निर्णय पर पहुंचे। दूसरे प्रस्ताव में यह मांग की गई कि इण्डिया कौंसिल तोड़ दी जाय। तीसरे प्रस्ताव में व्यवस्थापिका सभा की त्रुटियों पर प्रकाश डाला गया था। इस प्रस्ताव में यह मांग की गई थी कि व्यवस्थापिका सभा के सदस्य चुने हुए हों। नामजद करने की प्रथा खत्म की जाय। सदस्यों को प्रश्न पूछने का अधिकार हो। यू० पी० और पंजाब में कौंसिल बनाई जाय और पार्लामेन्ट की एक कमेटी हो जो भारतीय लेजिस्लेटिव कौंसिल के अधिकांश सदस्यों की तरफ से जो प्रस्ताव आवें उन पर विचार करे। चौथे प्रस्ताव में यह प्रार्थना की गई कि आई० सी० एस० की परीक्षा इंग्लैंड और भारत दोनों जगह एक साथ हो और परीक्षार्थियों की उम्र १९ से बढ़ाकर २३ कर दी जाय। पांचवें प्रस्ताव में कहा गया कि सेना पर खर्च घटाया जाय। छठा प्रस्ताव भी इसी

कांग्रेस के प्रथम प्रस्ताव

संबंध में था। उसमें यह कहा गया कि यदि सैनिक-व्यय बढ़ाना अनिवार्य ही होजाय तो उसका खर्च विदेशी माल पर टैक्स लगाकर तथा लाइसेन्सों से रुपया लेकर पूरा किया जाय। प्रस्ताव का आशय यह था कि अब भारतीय करदाता पर अधिक कर न लगाया जाय। सातवें प्रस्ताव में उत्तरी ब्रह्मा को जीत कर उसे ब्रिटिश साम्राज्य में मिलाने का विरोध किया गया था। आठवें प्रस्ताव में यह कहा गया था कि ये प्रस्ताव भारत की विभिन्न संस्थाओं के पास भेज दिये जायं और उनसे कहा जाय कि इनको दृष्टि में रखकर जो उचित समझें करें। नवें प्रस्ताव में कहा गया था कि आगामी अधिवेशन सन् १८८६ के दिसम्बर मास में २८ तारीख को कलकत्ता में होगा। प्रस्तावों के बाद धन्यवाद दिये गए। धन्यवाद में विशेषकर श्री० ह्यूम का उल्लेख किया गया। इसके बाद महारानी विक्टोरिया की जय-जयकार के साथ अधिवेशन की कार्यवाही समाप्त हुई।

पहली कांग्रेस के नेता

कांग्रेस के पहले सभापति श्री उमेशचन्द्र बनर्जी सरकार-भक्त माने जाते थे। लार्ड रिपन को बड़ी धूम-धाम से विदाई देने में उन्होंने बहुत काम किया था। लेकिन इलबर्ट बिल से उनकी यह सरकार-भक्ति कुछ ठंडी पड़ गई थी और वह सचेत होने लगे थे। अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने ब्रिटिश सरकार की प्रशंसा की थी और महारानी विक्टोरिया की जय-जयकार के साथ अधिवेशन समाप्त हुआ था। इन बातों को लेकर तथा श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी जैसे देश-भक्तों की अनुपस्थिति के प्रश्न को लेकर कुछ लेखकों का यह मत है कि पहले अधिवेशन के नेता सरकार-परस्त और दब्बू थे। उनके ऊपर अंग्रेजियत का बड़ा जबरदस्त असर था और वे अंग्रेजों को संतुष्ट करने में ही जीवन की सार्थकता समझते थे। उनके इन आक्षेपों में कुछ सचाई हो सकती है लेकिन वह एक ऐसा समय था जब लोगों में राजनैतिक चेतना नहीं थी। एक प्रभावशाली संस्था का संगठन करके लोगों में राजनैतिक चेतना पैदा करना ऐसा काम था जिसमें अनेक वर्ष लग सकते थे। इस समय के नेता इस कठिनाई से परिचित थे। यही कारण था कि सभापति श्री उमेशचन्द्र बनर्जी ने

कांग्रेस के उद्देश्यों पर प्रकाश डालते हुए सबसे पहले देश-प्रेमियों में मित्रता और घनिष्ठता पैदा करने पर जोर दिया था और इसी प्रकार की अन्य मोटी-मोटी राष्ट्रीय एकता और संगठन की बातों की ओर ही कांग्रेस के नेताओं का ध्यान आकर्षित किया था।

: ५ :

उदारमत का श्रीगणेश

पहले अधिवेशन के वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कांग्रेस का जन्म सरकार की छत्रछाया में हुआ था। उसके सभी प्रमुख नेता वैधानिक आन्दोलन में विश्वास रखते थे। उनका लक्ष्य था शासन-सुधार। देश को विदेशी शासन से मुक्त कराने की कोई क्रान्तिकारी योजना उनके मस्तिष्क में नहीं थी। भारतीय राजनीति पर सन् १९०० तक इन लोगों का ही प्रभाव रहा।

वैधानिक आन्दोलन

कांग्रेस का दूसरा अधिवेशन अगले वर्ष सन् १८८६ में कलकत्ता में हुआ। इस बार श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी अधिवेशन में आये। प्रतिनिधि भी कांग्रेस के अन्तर्गत काम करने वाली विभिन्न संस्थाओं से चुन कर आये थे। पहले अधिवेशन में तो जो लोग आये थे उन्हींको प्रतिनिधि मान लिया गया था, अतः कांग्रेस के अन्तर्गत काम करनेवाली संस्थाओं से प्रतिनिधियों का चुनकर आना एक आगे बढ़ा हुआ कदम था। अब प्रतिनिधियों की संख्या ४२६ हो गई थी जबकि पहले अधिवेशन में वह ७२ ही थी। दादाभाई नौरोजी सभापति चुने गए। डाक्टर राजेन्द्रलाल मित्र स्वागताध्यक्ष थे। उन्होंने भाषण में कहा : "यह मेरा स्वप्न रहा है कि मेरी जाति की बिखरी हुई इकाइयां किसी दिन एक हो जायं और केवल व्यक्तियों के रूप में जीवित रहने के बजाय हम एक जाति के रूप में समर्थ हों। हम इस कांग्रेस में इसी प्रकार की एकता का श्रीगणेश देख रहे हैं।" अधिवेशन के वातावरण में सरकार-भक्ति और विनम्रता की प्रधानता थी। वाइसराय लार्ड डफरिन ने प्रतिनिधियों का स्वागत किया और सबसे

मित्रता पूर्ण ढंगसे बातचीत की। उन्होंने सब लोगों को एक गार्डन पार्टी भी दी।

कांग्रेस के तीसरे अधिवेशन में, जो मद्रास में हुआ, प्रतिनिधियों की संख्या और बढ़ी और वह छः सौ पर पहुंच गई। इसबार पहली दफा पंडाल बना तथा दर्शक लोग भी अधिवेशन में बड़ी संख्या में आये। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह थी कि इस अधिवेशन के सभापति श्री बदरुद्दीन तैयबजी चुने गए, जो मुसलमान थे। स्वागताध्यक्ष श्री टी० माधव राव ने, जो दक्षिण भारत की अनेक रियासतों के प्रधान-मन्त्री पद पर कार्य कर चुके थे, अपने भाषण में कहा कि कांग्रेस ब्रिटिश साम्राज्य के लिए एक शान की वस्तु है। मद्रास के एक गोरे बैरिस्टर श्री नार्टन का भाषण बड़ा ही महत्व-पूर्ण था। कांग्रेस के कार्यों में भाग लेने पर उनको राजद्रोही कहा गया था। अतः उन्होंने भाषण में कहा : "सज्जनो, अगर अन्याय का विरोध करना राजद्रोह हो, अगर इस बात के लिए कोशिश करना कि भारत-वासियों को अपने देश के शासन में समुचित भाग मिलना चाहिए राजद्रोह हो, अगर अत्याचार का विरोध करना, दमन के विरुद्ध आवाज उठाना, अन्याय के विरुद्ध विद्रोह करना राजद्रोह हो, अगर यह मांग करना कि किसी को दण्ड मिलने के पहले उसके मामले की सुनवाई होनी चाहिए राजद्रोह हो, अगर व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का पक्ष-समर्थन करना और क्रमशः परन्तु निरन्तर आगे बढ़ते रहने का अधिकार चाहना राजद्रोह हो, तो राज-द्रोही कहलाने में बड़ी प्रसन्नता है और जब मैं यह देखता हूँ कि मेरे चारों ओर राजद्रोहियों का ऐसा प्रतिष्ठित समूह मौजूद है तो मेरी प्रसन्नता दूनी-तिगुनी बढ़ जाती है।"

मद्रास कांग्रेस के अवसर पर जन-सम्पर्क का भी सूत्रपात हुआ। पूर्व बंगाल के नेता श्री अश्विनीकुमार दत्त अपने साथ ४५ हजार व्यक्तियों के हस्ताक्षर करवा कर एक अपील लाये थे। इसमें कांग्रेस के नेताओं की शुभकामना करते हुए शासन-सुधार की मांग की गई थी। उन्होंने एक प्रभावशाली भाषण दिया और कहा : "साधारण-से-साधारण किसान और मजदूर भी शासन-सुधार चाहता है और चाहता है कि वह शासन-सुधार

हमारे नेताओं द्वारा ही हो। जनता नेताओं को अपना पूरा सहयोग देने को तैयार है।" ४५ हजार व्यक्तियों के हस्ताक्षर की बात इस समय नई थी। अधिवेशन के पूर्व उसकी जानकारी लोगों को देने के लिए वीर राघवाचार्य ने तमिल भाषा में एक पुस्तक लिखी थी और उसकी तीस हजार प्रतियां लोगों में बंटवाई थीं। इस प्रकार लोकमत को जाग्रत करने के प्रयत्नों का श्रीगणेश हो रहा था।

सरकार और कांग्रेस में कश-मकश प्रारंभ

कांग्रेस का प्रभाव धीरे-धीरे बढ़ता जारहा था और उसका रास्ता भी कुछ स्पष्ट होने लगा था। अतः उसकी गति-विधि देखकर सरकार के कान खड़े होने लगे। वह नहीं चाहती थी कि जनता में इतनी तेजी से राष्ट्रीय चेतना बढ़े। अतः उसका रुख बदलने लगा। गोरे पत्रों ने अपनी आलोचनाओं से विरोध की खाई को और चौड़ा करने में मदद की। उन्होंने कांग्रेसी-नेताओं की आलोचना के किसी अवसर को हाथ से नहीं जाने दिया और जब अवसर मिला उन पर कीचड़ उछालना प्रारम्भ किया। श्री ए० ओ० ह्यूम की स्फूर्तिदायी कविताओं तथा पर्चोंने भी सरकारी अधिकारियों को उत्तेजित कर दिया। बात इतनी बढ़ी की एक दिन यू० पी० के गवर्नर श्री आक्लैण्ड कालविन के साथ उनकी गरमा-गरम बहस तक हो गई। परिणाम यह हुआ कि कांग्रेस के चौथे अधिवेशन को, जो यू० पी० में ही होने वाला था, अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। श्री अयोध्यानाथजी स्वागताध्यक्ष चुने गए। अधिवेशन के लिए खुसरु बाग चुना गया लेकिन अधिकारियों ने स्वीकृति नहीं दी। अब किले के पास का स्थान चुना गया लेकिन फिर बहाने बना दिये गए और स्वीकृति नहीं मिली। बड़ी परेशानी थी। लेकिन अयोध्यानाथजी हिम्मत हारनेवाले व्यक्ति नहीं थे। उन्होंने 'पायोनियर' के कार्यालय के पास तम्बू गाड़ कर अधिवेशन करना चाहा। लेकिन इसके लिए भी इजाजत नहीं दी गई। अब तो स्पष्ट होगया कि सरकार कोई भी स्थान देने वाली नहीं है। अतः दरभंगा के महाराज ने एक कोठी खरीद दी। इस कोठी में अधिवेशन की तैयारी प्रारम्भ हुई। अब तो सरकार

का कोई बस नहीं था लेकिन फिर भी उसने एक नई बात कर ही डाली। एक गश्ती चिट्ठी निकाल कर उसने सारे सरकारी कर्मचारियों को आदेश दिया कि वे अधिवेशन में सम्मिलित न हों। गवर्नर स्वयं दौरे पर चले गए और जब अधिवेशन समाप्त हुआ तब लौटे। इस अधिवेशन के सभापति श्री जार्जयूल पहले अंग्रेज सभापति थे। वह कलकता के एक प्रसिद्ध व्यापारी थे। प्रतिनिधियों की संख्या दूनी होगई थी। इस बार १२४८ प्रतिनिधि आये थे। अधिवेशन में बड़े अच्छे-अच्छे भाषण हुए और अनेक दृष्टिकोण सामने आये। लखनऊ के एक समाचार पत्र 'पंच' के संपादक श्री मुन्शी सज्जादहुसैन ने बड़ा ही ओजस्वी भाषण दिया। उन्होंने कहा : "अंग्रेजों ने हमको जो बहुत से वरदान दिये है, उनमें से एक है पुलिस। आज एक साधारण से चौकीदार और कान्स्टेबल को भी लेफ्टीनेन्ट गवर्नर या वाइसराय से ज्यादा अधिकार प्राप्त हैं। वह हर स्थान पर आपको मिल जायगा। यदि आपने उसे थोड़ा भी असंतुष्ट किया तो फिर खैर नहीं है।" सभापति श्री जार्जयूल के भाषण के भी बहुत से अंश बड़े स्फूर्तिदायक थे। उन्होंने कहा : "संस्थाओं को अपने जीवन में कई मंज़िलों को पार करना पड़ता है। पहली मंज़िल तो मजाक उड़ाये जाने की होती है। जब आंदोलन कुछ जोर पकड़ लेता है तो लोग उसे कुछ भला-बुरा कहने लगते हैं। इसके बाद उसके साथ कुछ रिआयतें की जाती हैं और कुछ उसके उद्देश्यों के प्रति गलतफहमी भी फैलाई जाती है। साथ ही यह चेतावनी भी दी जाती है कि अज्ञात प्रदेशों में लम्बे डग भरना खतरे का काम होगा। आखरी मंजिल यह होती है कि उसके उद्देश्यों को मोटेतौर पर मंजूर कर लिया जाता है और साथ ही इस बात पर कुछ आश्चर्य भी प्रकट किया जाता है कि उसे पहले ही स्वीकार क्यों नहीं कर लिया गया।" इसमें कोई शक नहीं कि इलाहाबाद का यह चौथा अधिवेशन पिछले अधिवेशनों से अधिक सफल रहा। श्री चिंतामणि ने लिखा था कि इस अधिवेशन की रिपोर्ट का अध्ययन करना मानों राजनीति की शिक्षा प्राप्त करना है।

अपने चार-पांच वर्ष के जीवन में ही कांग्रेस ने शिक्षित लोगों की

सहानुभूति और सद्भावना प्राप्त करली। वह भारतीय राष्ट्रीय चेतना की प्रतीक बन गई। वाइसराय लार्ड डफरिन ने पहले कांग्रेस की गतिविधि पर प्रसन्नता व्यक्त की थी और उसे प्रोत्साहन दिया था लेकिन इन पाँच वर्ष के समय में ही जब वह भारत से लौटे तो उनके विचार बदल गए और जाते समय उन्होंने उसे एक विद्रोही संस्था बताकर जो भी मन में आया भला-बुरा कहा।

कांग्रेस का पाँचवाँ अधिवेशन बम्बई में सन् १८८९ में सर विलियम वेडरबर्न की अध्यक्षता में हुआ। इस बार प्रतिनिधियों की संख्या भी ठीक १८८९ ही थी। भारत-मित्र श्री ब्रेडला की उपस्थिति ने अधिवेशन में नई स्फूर्ति और चेतना का संचार कर दिया था। श्री ब्रेडला ब्रिटिश पार्लमेंट के सदस्य थे। भारतीय मामलों में उनकी बड़ी दिलचस्पी थी। वह इस समय अधिवेशन में सम्मिलित होने के लिए ही भारत आये थे। सभापति ने अपने भाषण में सरकार की नीति की निन्दा करते हुए कहा : "कम्पनी की अमलदारी में कम्पनी पर जो देख-रेख रहती थी उसके कारण फिर भी भारतवासियों की अवस्था अच्छी थी लेकिन सन् १८५८ से, जबसे शासन के सूत्र सरकार के हाथ में आये, भारतवासियों के कष्ट और भी बढ़ गए हैं। पहले कम्पनी को पार्लमेंट की परवाह रहती थी, लेकिन अब सरकार को किसका डर है? उदाहरण के लिए लार्ड रिपन ने कृषि-बैंक की स्थापना के लिए एक योजना बनाई थी, लेकिन इस योजना का समर्थन करने के बजाय भारत-सचिव के कार्यालय ने इसे समाप्त ही कर दिया। मैं यह पूछना चाहता हूं कि कृषि-बैंक के बिना किसानों की उन्नति किस प्रकार से हो सकती है? वे तो हमेशा साहूकारों के हाथ के कठपुतले बने रहेंगे। यदि कृषि-बैंक न हों तो यह निश्चित है कि किसानों की फसलें उनके घर न पहुंच सकेंगी। जर्मनी को देखिये, वहां दो हजार कृषि-बैंक काम कर रहे हैं।" अधिवेशन के अन्त में भारतमित्र श्री ब्रेडला को मानपत्र भेंट किया गया जिसमें कहा गया था कि उन्होंने जनता के लिए अपना जीवन न्योछावर कर दिया है। श्री ब्रेडला ने अपने भाषण में कहा : "यदि जनता के लिए नहीं तो फिर हम किसके लिए

काम करें ? हम जनता में ही पैदा हुए हैं। जनता हमारे ऊपर विश्वास करती है। मैं जनता के लिए जीवित हूँ जनता के लिए मरूंगा।" उन्होंने आगे कहा : "आप कुछ ज्यादा अपेक्षा न करें। इंग्लैंड में जो-जो बड़े सुधार हुए हैं वे सब धीरे-धीरे हुए हैं। जिन लोगों ने पहले उनकी आवाज उठाई वे राजद्रोही कहे गए और कभी-कभी तो राजद्रोहियों की तरह जेल भेज दिये गए, पर वाणी और विचार अमर हैं। किसी को जेल भेजकर सत्य का गला नहीं घोटा जा सकता। इससे सत्य का घण्टे-दो-घण्टे के लिए लोप हो सकता है, लेकिन काल-कोठरी की दीवारों में उसे बिजली की तरह गति मिलती है और फिर वह बड़े जोर से प्रकट होता है।' भारत से लौटने पर उन्होंने पार्लामेंट में एक बिल भी पेश किया था, जिसमें धारणाओं के विस्तार तथा शासन-सुधार की बात थी। दुख है कि यह बिल पास न हो सका। सन् १८९२ में अनुदार दल ने एक बिल अवश्य पास किया लेकिन यह इससे बहुत भिन्न था।

इस अधिवेशन में यह तय हुआ कि कांग्रेसी नेताओं का एक प्रतिनिधि-मण्डल विलायत भेजा जाय। इसमें श्री ए० ओ० ह्यूम, बैरिस्टर नार्टन, श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, श्री आर० एन० मुधोलकर तथा श्री फिरोजशाह मेहता प्रमुख थे। ये लोग १८९० में इंग्लैंड गये। इन्होंने इंग्लैंड, वेल्स और स्काटलैंड की अनेक सभाओं में भाषण दिये।

छठा अधिवेशन श्री फिरोजशाह मेहता की अध्यक्षता में कलकत्ता में हुआ। इस बार प्रतिनिधि चुनकर आये थे और उनकी संख्या ७०० थी। सरकार ने एक गश्ती चिट्ठी निकाल कर सरकारी कर्मचारियों को आदेश दिया कि वे अधिवेशन में सम्मिलित न हों। गोरे अखबारों ने भी कांग्रेस विरोधी प्रचार किया। कांग्रेस के व्यवस्थापकों ने जब गवर्नर तथा अन्य अधिकारियों के लिए अधिवेशन के सात निमंत्रण-पत्र भेजे तो वे वापस कर दिये गए। इन सब बातों से नेताओं में बड़ा जोश फैला। इसका यही मतलब था कि कांग्रेस विद्रोही संस्था है लेकिन इस समय के नेता तो अपने को किसी भी राजभक्त व्यक्ति से कम नहीं समझते थे। श्री फिरोजशाह मेहता ने अपने भाषण में लार्ड डफरिन के उस भाषण

का जवाब दिया जिसमें उन्होंने कांग्रेस को राजद्रोही संस्था कहा था। उन्होंने कहा : "हमारे ऊपर यह आरोप लगाया जाता है कि हम खुर्दबीन से देखे जाने योग्य अल्प-संख्यक हैं लेकिन इसके बाद भी हम जीवित हैं। हम पर यह अभियोग लगाया जाता है कि हम सब छद्म-वेषधारी नौकरी चाहने-वाले बाबू हैं लेकिन हम उससे भी नहीं मरे। हम पर गालियों की बौछार की गई, हमें बदनाम किया गया, हमें गलत समझा गया, हम उसके बावजूद भी जीवित हैं। हम पर राजद्रोही होने का जो अभियोग लगाया गया उससे भी हम बरी हो चुके हैं।"

अधिवेशनों का क्रम इसी प्रकार चलता रहा। सातवां अधिवेशन बड़े उत्साह के वातावरण में लाहौर में हुआ। सभापति श्री दादा भाई नौरोजी ब्रिटिश पार्लामेन्ट के सदस्य चुने गए थे। उस समय ब्रिटिश पार्लामेण्ट के लिए सदस्य चुना जाना बड़े ही सम्मान की बात मानी जाती थी। अतः लोगों के मन में इतना आदर उमड़ा कि उन्होंने सभापति की गाड़ी स्वयं खींची। कांग्रेस का काम जैसे-जैसे बढ़ता जा रहा था सरकार सतर्क होती जा रही थी। अब विरोध की खाई भी स्पष्ट दिखाई देने लगी थी। सरकार इस प्रकार के उपाय करने लगी थी जिनसे कांग्रेस के काम में बाधा पैदा हो। सन् १८७६ में जब लखनऊ में कांग्रेस का अधि-वेशन होने वाला था तो उसने शहर में अधिवेशन करने की इजाजत ही नहीं दी। अधिवेशन लखनऊ से ८ मील दूर एक ग्राम में हुआ। सभापति श्री रमेशचन्द्र दत्त ने कहा : "यदि राजद्रोह के नाम पर लोगों को बोलने या लिखने से रोका गया तो उसका नतीजा यह होगा कि राजद्रोह और भी फैलेगा।" अधिवेशन गन्ने और चावल के खेतों में हुआ। दिन में मक्खियाँ परेशान करती थीं, रातमें रीछ आदि जंगली जानवर! लेकिन प्रतिनिधियों ने अपनी कार्यवाही शान्ति के साथ पूरी की। इस प्रकार सरकारी विरोध के बावजूद कांग्रेस का काम बढ़ता गया। पिछले ७-८ वर्षों पर दृष्टि डालने से अब स्पष्ट दिखाई देता था कि कांग्रेस काफ़ी आगे बढ़ चुकी थी। प्रत्येक अधिवेशन के बाद ऐसा प्रतीत होता था मानो उसने राष्ट्रीयत की दिशा में दृढ़ता पूर्वक एक नया कदम बढ़ा दिया है।

अधिवेशनों का क्रम चलता रहा। थोड़े से हेर-फेर के साथ वे ही प्रस्ताव सामने आये लेकिन जैसे-जैसे १९वीं शताब्दि का अन्त हुआ और २०वीं शताब्दि प्रारंभ हुई सारा दृश्य कुछ-कुछ बदलता-सा दिखाई देने लगा। सन् १९०६ में तो स्थिति बिलकुल स्पष्ट हो गई। इस समय स्पष्ट रूपसे कांग्रेस में एक ऐसा दल बन गया जो वैधानिक आन्दोलन को तिलांजलि देकर क्रांतिकारी कदम उठाना चाहता था।

: ६ :

कांग्रेस का कार्य

कांग्रेस की लोकप्रियता

पिछले अध्याय में कांग्रेस अधिवेशनों की गतिविधि पर जो प्रकाश डाला गया है उससे स्पष्ट हो जाता है कि पहले युग के अन्त अर्थात् सन् १९०० तक अपने वैधानिक आन्दोलन के कारण कांग्रेस जनता में जहां लोकप्रिय बन रही थी वहां सरकार की कोप-भाजन भी बनती जारही थी। देश के सभी तबकों के शिक्षित व्यक्ति उसकी ओर आकर्षित हो रहे थे और उसकी शक्ति को बढ़ाने में सहायता करते थे। ऐसा प्रतीत होता था मानो कांग्रेस देश का मस्तिष्क और उसकी वाणी बनती जा रही है। दूसरे ही अधिवेशन के अवसर पर पं० मदनमोहन मालवीय ने कहा था : "देश को कांग्रेस के रूप में वाणी मिल गई। उसके द्वारा वह अपनी बात कहेगा। अब अधिक दिनों तक वह गूंगा नहीं रह सकता। कांग्रेस के द्वारा हम ब्रिटेन से कहते हैं कि वह अपनी परंपराओं के प्रति सजग एवं सत्यनिष्ठ बनकर हमें वे ही सारे अधिकार दे जो एक ब्रिटिश नागरिक को वहां प्राप्त हैं।" श्री हेनरी काटन ने, जो उस समय एक बड़े सरकारी पद पर थे, कांग्रेस के सम्बन्ध में लिखा था : "यद्यपि कांग्रेस के सदस्य उल्लेखनीय रूप में सरकार की नीति को बदलवाने में सफल नहीं हुए हैं तथापि अपने देशवासियों के चरित्र तथा इतिहास के विकास पर उन्होंने अपना काफी प्रभाव डाला है। वे देश की

एक शक्ति बन गए हैं, उनकी आवाज़ बिगुल की तरह देश में एक कोने से दूसरे कोने तक फैल जाती है।"

इस युग के कांग्रेसी नेता पाश्चात्य विचारों एवं आदर्शों से प्रभावित थे। उन्होंने जनता में सेवा और उदारता की भावना जाग्रत की। कांग्रेस के प्रचार के साथ राष्ट्रीय चेतना, एकता तथा जन-सेवा के आदर्शों का प्रचार हुआ। विरोध के बावजूद भी अब सरकारी अधिकारी यह अनुभव करने लगे कि उसके पीछे कुछ शक्ति अवश्य है और वह अधिक नहीं तो कम-से-कम कुछ पढ़े-लिखे लोगों का प्रतिनिधित्व अवश्य करती है।

कांग्रेस के कार्य

कलकत्ता अधिवेशन के अवसर पर सन् १६०६ में दादाभाई नौरोजी ने संगठन के काम की ओर ध्यान दिया। उसका पहला उद्देश्य सरकार की उस नीति और उन सिद्धांतों की जांच करना था, जिनसे वह भारत पर शासन कर रही थी। दूसरा उद्देश्य था ब्रिटिश शासन-व्यवस्था की गतिविधि पर दृष्टि रखना तथा शासन-सुधारों के लिए तब-तक जोर देते रहना जबतक उनमें उचित परिवर्तन न हो। सन् १६०६ के पहले तक तो कांग्रेस दृढ़तापूर्वक स्वशासन की मांग ही पेश नहीं कर पाई थी। अपने प्रस्तावों में वह बार-बार धारा-सभाओं के विस्तार की मांग करती थी तथा कहती थी कि उनमें चुने हुए लोगों को लेना चाहिए। दूसरे अधिवेशन के अवसर पर स्वागताध्यक्ष डा० राजेन्द्रलाल मित्र ने स्पष्ट रूप से कहा था: "हम एक विदेशी सरकार के अधीन हैं। यह हमारी राष्ट्रीय सरकार नहीं है। जो लोग हमारे ऊपर शासन कर रहे हैं वे जन्म, धर्म, आचार-विचार सभी बातों में विदेशी हैं और यह विदेशीपन मानवता को अनेक टुकड़ों में बांट रहा है। वे न तो भारतीय हृदय को पहचान सकते हैं न उसकी आशा-अपेक्षा एवं भावनाओं को ही जान सकते हैं। तीसरे अधिवेशन के अवसर पर धारा-सभाओं में जनता के प्रतिनिधि लेने के सम्बन्ध में प्रस्ताव रखते हुए श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने कहा था: "हम कांग्रेस का झंडा फहरा रहे हैं। इस झंडे पर स्वर्णाक्षरों में लिखा है: 'भारत के लिए प्रतिनिधि मूलक

संस्थाएं।' इन शब्दों को कोई भी नहीं मिटा सकता।"

कांग्रेस के नेताओं ने हमेशा यह बात कही कि वे अपने देश का शासन पूरी तरह चला सकते हैं। उसमें हाथ बटाने के लिए सरकार को उन्हें मौका देना चाहिए और चुनाव के सिद्धान्त को जल्दी-से-जल्दी अपना लेना चाहिए। इससे उन्हें जहां राजनीति की शिक्षा मिलेगी वहां शासन का उत्तरदायित्व वहन करने का अवसर भी मिलेगा। १४वें अधिवेशन में श्री आनन्दमोहन ने तो यह सुझाव भी दे दिया था कि भारतीय जनता को पार्लमेंट में सीधा प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए। इससे अंग्रेज़ी शासन के प्रति कटुता की भावना कम होगी। लेकिन जब सरकार ने न तो लोगों की भावनाओं को पहचानने का प्रयत्न किया और न ही नागरिक स्वतन्त्रता की दिशा में ही कुछ किया तो कांग्रेस को अपना प्रचार करने के लिए काफी बल मिला। आगे चलकर जब बंग-भंग की बात सामने आई तब तो लोगों का यह विश्वास और भी दृढ़ होगया कि स्वशासन के बिना उनकी समस्या हल नहीं हो सकती। अतः इस समय कांग्रेस ने स्वशासन की मांग पेश की और कहा कि जो स्थान अंग्रेज़ों का ब्रिटेन में है वही भारतीय जनता का भारत में होना चाहिए। कलकत्ता अधिवेशन के अवसर पर सन् १६०६ में कांग्रेस ने यह स्वशासन की मांग पेश की और कहा कि इस दिशा में आगे कदम बढ़ाने के लिए सरकार को बड़े-बड़े सरकारी पदों पर भारतीय लोगों को नियुक्त करना चाहिए। 'कौन्सिल आफ दी सेक्रेटरी आफ स्टेट', वाइसराय की कार्यकारिणी तथा मद्रास और बम्बई के गवर्नरों की कार्यकारिणी में भारतीय लोगों को पर्याप्त प्रतिनिधित्व देना चाहिए। साथ ही केन्द्रीय और प्रान्तीय धारासभाओं का विस्तार किया जाना चाहिए, आर्थिक और शासन-व्यवस्था के मामलों पर जनता का अधिक नियन्त्रण लागू करना चाहिए और म्युनिसिपल कमेटी तथा स्थानीय संस्था के अधिकारों का विस्तार करना चाहिए एवं सरकारी नियंत्रण से उन्हें मुक्त करना चाहिए।

प्रारम्भिक काल में कांग्रेस जनता के कष्टों पर विचार करती रही और उसने शासन के प्रत्येक क्षेत्र में सुधार की मांग की। फिर भी उसका

सबसे ज्यादा ध्यान धारासभाओं के विस्तार और सुधार, न्याय-विभाग के पृथक्करण, भारतीय लोगों को अधिक नौकरियां देने, पुलिस के सुधार और सरकारी खर्च को घटाने पर ही केन्द्रित रहा। कांग्रेस ने बारबार यह बात कही कि अंग्रेज़ी शासन ने सौ में निन्यानवे लोगों के लिए सम्मान-पूर्वक जीविका कमाने का रास्ता रोक दिया है और उनके साथ भेड़-बकरियों की तरह व्यवहार किया जा रहा है।

कांग्रेस ने जनता के सामाजिक और आर्थिक प्रश्नों पर भी विचार किया। उसके कार्यकर्ताओं ने जनता को सुखी बनाने के लिए श्रम किया। श्रीमती एनीबीसेन्ट ने लिखा : "कांग्रेस को जनता के दुखों से पूरी सहानुभूति थी। लोगों को प्राथमिक शिक्षा दिलाना तथा किसानों को अधिकाधिक गरीब बनाने वाले कानूनों का विरोध करना कांग्रेसियों के प्रिय-कार्य थे।" उसने केवल उच्च-वर्ग के लोगों की ही वकालत नहीं की बल्कि गरीब जनता की कष्ट-कथा भी कही। नेता बढ़ती हुई गरीबी से परिचित थे और उसे मिटाने के लिए उन्होंने समय-समय पर अनेक सुझाव दिये थे। उनके वे सुझाव इस प्रकार थे :

१. सरकारी खर्च कम किया जाय।

२. भूमिकर घटाया जाय।

३. वे कर बिलकुल हटा दिये जायं जिनका भार गरीबों पर पड़ता है।

४. ब्रिटेन को जो रुपया जारहा है वह रोका जाय तथा विदेशों में जानेवाले अनाज पर भी रोक लगाई जाय।

५. सिंचाई के साधनों का विकास और विस्तार किया जाय।

६. कृषि-बैंकों की स्थापना की जाय ताकि किसान साहूकार के जुए से मुक्त होसके।

७. पुराने उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन दिया जाय तथा नये उद्योग-धन्धे प्रारम्भ किये जायं।

कांग्रेस ने बढ़ते हुए ब्रिटिश पूंजीवाद का विरोध किया और भारतीय पूंजीपतियों के हितों को संरक्षण देने का भी प्रयत्न किया। उन्होंने प्रवासी भारतीयों के हितों की भी कभी उपेक्षा नहीं की। विदेशों में उनके साथ

जो दुर्व्यहार होरहा था उसके ऊपर हमेशा उनकी नजर रही। ग्यारहवें अधिवेशन में दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों को मताधिकार से वंचित करने का विरोध किया गया और कहा गया कि उनका ऐसा करना हमारे समूचे राष्ट्र का अपमान है। उसने एक प्रहरी की भांति नागरिक स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए प्रयत्न किया। जब-जब इनके ऊपर आघात हुआ उसने विरोध करने में पीछे कदम नहीं रखा। शस्त्र-कानून तथा उसके जैसे अन्य कानूनों का भी उसने विरोध किया और कहा कि उनका होना राष्ट्र का अपमान है। समय-समय पर उसने सरकारी अधिकारियों के अत्याचारों और अनीति की भी आलोचना की और उनका विरोध करने में हिच-किचाहट नहीं दिखाई।

इन सब कामों के साथ कांग्रेस ने ब्रिटेन की जनता को भारतीय भावनाओं से परिचित रखने तथा भारतीय समस्याओं के प्रति उसकी सहा-नुभूति प्राप्त करने की दिशा में भी प्रयत्न किया और अनेक अंग्रेज़ राज-नीतिज्ञों की सहानुभूति प्राप्त की। भारत-मित्र चार्ल्स ब्रेडला तो स्वयं कांग्रेस के अधिवेशन के अवसर पर भारत आये थे और उन्होंने भारत संबंधी प्रश्नों में बड़ी दिलचस्पी ली थी। सन् १८८६ में कांग्रेस ने ब्रिटेन में अपनी एक कमेटी बनाकर उसके काम को आगे बढ़ाने के लिए ४५ हज़ार रुपये मंजूर किये थे। सन् १८८३ में श्री विलियम वेडरबर्न तथा श्री केन ने एक भारतीय पार्लामेंटरी कमेटी बनाकर हाउस आफ कामन्स में भारत के लिए शासन-सुधार प्राप्त करने का काम आरम्भ किया था। प्रतिनिधि मण्डल तो कांग्रेस ने कई बार भेजे और उनके द्वारा कांग्रेस के विरुद्ध जो गलत प्रचार प्रारम्भ हो रहे थे, उनका निराकरण किया।

कांग्रेस की सफलताएं

यद्यपि इस समय का आन्दोलन केवल वैधानिक ही था तथापि उसे कुछ सफलता भी मिली। समय-समय पर उसने शासन का ध्यान आकर्षित किया और जिन बातों की शिकायतें की गईं थीं उनकी जांच-पड़ताल की गई। उसने उदार विचार के अंग्रेज शासकों की कुछ सहानुभूति प्राप्त की तथा कुछ ही अंशों में क्यों न हो, शासन की स्वेच्छाचारिता पर भी रोक

लगाई । अपने प्रयत्नों से कांग्रेस ने टोरीदल की इच्छा के विरुद्ध सन् १८९२ का इण्डियन कौन्सिल्स एक्ट पास करवा लिया । इस एक्ट के द्वारा प्रान्तीय धारा-सभाओं का विस्तार हुआ और उनके कुछ स्थानों पर स्थानीय संस्थाओं की सिफारिश से नामजदगी होने लगी । गोरे पत्रों के काफी विषैला प्रचार करने पर भी कांग्रेस ने स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं तथा शासन-सुधार की काफी सफलता पूर्ण वकालत की । सन् १८९० में उसने बंगाल सरकार की उस आज्ञा को निरस्त करवा दिया जिसके द्वारा सरकारी कर्मचारियों को दर्शक के रूप में भी कांग्रेस अधिवेशन में भाग लेने को मना कर दिया गया था । सन् १८९४ में उसने सरकार के उन प्रतिक्रियावादी प्रयत्नों का विरोध किया जिनके द्वारा राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेने वाले वकीलों की स्वतन्त्रता पर रोक लगाई जा रही थी ।

कांग्रेस की कमजोरियां

यह कांग्रेस का शैशव-काल था । अतः उसके आन्दोलन में शक्ति, प्रभावशीलता एवं दृढ़ता की कमी थी । कांग्रेसी-नेता यद्यपि शासन की कड़ी आलोचना करने में नहीं चूकते थे तथापि वह इसी ही क्षण माफी मांग लेने के लिए भी तैयार रहते थे । वह मानो सरकार के विरोधी दल के अवैतनिक सदस्य थे । लाला लाजपतराय ने इस समय के आन्दोलन के सम्बन्ध में लिखा है : "उसमें राष्ट्रीय आन्दोलन के महत्त्वपूर्ण तत्वों की कमी थी । वह एक रुकता हुआ तथा आधे मन से किया हुआ ऐसा आन्दोलन था जो उन्हीं लोगों की सहानुभूति और सद्भावना चाहता था, जिनके विरुद्ध वह खड़ा हुआ था । वह न तो जनता द्वारा स्फूर्त था न उसके द्वारा संयोजित एवं संगठित ही । वह ऐसा आन्दोलन था जो लोगों के मन से नहीं उठा था । उसमें लोक-प्रिय आन्दोलन के तत्वों का अभाव था । उसके नेताओं का जनता से सीधा सम्पर्क नहीं था, और वह प्रभावशाली भी नहीं था । उसने देशभक्ति के नाम पर अवसर-वादिताओं और सौदेबाजी को ही प्रोत्साहन दिया । वह स्वतन्त्रता की नहीं सुविधाओं की मांग करता था । वह त्याग और बलिदान के आधार पर भी खड़ा नहीं हुआ था ।"

सच तो यह है कि इस समय का आन्दोलन मध्यम श्रेणी के लोगों का भी आंदोलन नहीं था। वह तो कुछ ऊंची श्रेणी के लोगों का आंदोलन था जो कभी कोई कड़ा कदम उठा ही नहीं सकते थे। नंगे-भूखे और अशिक्षित लोगों की उसमें सम्मिलित होने की बात बहुत दूर थी। इस तरह उस समय के आंदोलन में अनेक कमियां थीं और उस समय के नेताओं में भी अनेक कमजोरियां थीं लेकिन इसमें शक नही कि उन्होंने शासन-सुधार और स्वशासन का जो आन्दोलन आरम्भ किया वह धीरे-धीरे एक सबल आन्दोलन बन गया। उन्होंने राष्ट्रीयता के बीज बोये और उनको सींचा। अतः आज हम जिन फलों का उपभोग कर रहे हैं, उसका बहुत कुछ श्रेय उनको भी है।

: ७ :

प्रथम युग के नेता

पश्चिमी सभ्यता का प्रभाव

लार्ड कर्जन के शासन-काल तक भारतीय राष्ट्रीयता किसी क्रियाशील विचारधारा को जन्म नहीं दे सकी थी। प्रारंभिक युग में कांग्रेस में ऐसे लोगों की प्रमुखता थी जो बहिष्कार और असहयोग जैसे क्रांतिकारी शब्दों से चौंक उठते थे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह सब बड़े विद्वान थे लेकिन उनकी विद्वत्ता भाषणों, लेखों, वक्तव्यों और प्रस्तावों तक ही सीमित रहती थी। उसे क्रियात्मक रूप देने की शक्ति उनमें नहीं थी। यदि श्री ह्यूम, वेडरबर्न तथा हेनरी काटन जैसे अंग्रेज नेताओं को छोड़ दें तो सर्वश्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, दादाभाई नौरोजी, उमेशचन्द्र बनर्जी, दीनशा एदलजी वाचा, फिरोजशाह मेहता, आनन्द चार्लू, लालमोहन घोष, तथा गोपालकृष्ण गोखले ही इस युग के प्रमुख भारतीय नेता माने जा सकते हैं। इन नेताओं में सभी मध्यमश्रेणी के सबसे ऊंचे तबके के लोग थे। इनमें कोई पत्रकार था, कोई व्यापारी, कोई शिक्षा-शास्त्री और कोई वकील। लेकिन ये सभी अंग्रेजी शिक्षा की उपज थे। यद्यपि इन सब लोगों ने अंग्रेजी हुकूमत के विरुद्ध आवाज उठाई थी तथापि ये सभी अंग्रेजी सभ्यता और अंग्रेजी

संस्थाओं के जबरदस्त प्रशंसक थे। इन्होंने अंग्रेजी साहित्य का गंभीर अध्ययन किया था तथा कान्ट, स्पेन्सर, बर्क एवं मिल जैसे पाश्चात्य विचारक और दार्शनिकों के ये भक्त थे।

राजभक्ति

इस युग के नेताओं को इस बात पर बड़ा गर्व था कि वे ब्रिटिश-साम्राज्य की प्रजा थे। अपने भाषणों में वे हमेशा राजभक्ति की दुहाई दिया करते थे और इस राजभक्ति के बल पर ही उच्च पदों की मांग किया करते थे। यद्यपि वह जनतान्त्रिक संस्थाओं के लिए आन्दोलन कर रहे थे तथापि जनतान्त्रिक संस्थाओं से उनका मतलब ऐसी संस्थाओं से था जो साम्राज्य की हित-चिन्तक हों, विरोधी नहीं। इस युग के नेताओं में एक दूसरी समानता यह थी कि उन सबको ब्रिटिश-न्याय और शासन में बड़ा विश्वास था। अपने इसी विश्वास को व्यक्त करते हुए एक बार दादाभाई नौरोजी ने कहा था : "अंग्रेजों की स्वाभाविक न्याय-प्रियता में हमारा जो विश्वास है, वह गलत नहीं है। मुझे आशा कि वह दिन दूर नहीं जब दुनिया ब्रिटेन जैसे महान् देश को अपनी-सी सच्ची नागरिकता और न्याय का हाथ दूसरों के लिए बढ़ाने का श्रेष्ठतम दृश्य देखेगी।" थोड़े-बहुत हेर-फेर के साथ सभी नेता अपना यह विश्वास उन दिनों प्रकट करते रहते थे।

विधान-वाद में विश्वास

विधान की सीमाओं में ही आंदोलन करना इस युग का एक अन्य महत्वपूर्ण लक्षण है। इस युग के नेता सरकार से सीधी टक्कर लेने और कानून-भंग से हमेशा बचते रहते थे। यह निश्चित था कि वह अंग्रेजों की शासन-व्यवस्था एवं रीति-नीति से सन्तुष्ट नहीं थे तथापि वे उसे मिटाना नहीं चाहते थे। वह मानते थे कि दासता की स्थिति से स्वशासन की स्थिति तक पहुँचना सीधा काम नहीं है। उसमें काफी समय लगेगा और धीरे-धीरे सुधारों के मार्ग से ही उस दिशा में आगे बढ़ना हो सकेगा। समय के साथ-साथ जैसे-जैसे लोगों में उग्रता आती हुई दिखाई देती थी तो ये लोग मन में डरते थे।

किन्तु इस युग के नेता छोटे-मोटे सुधारों से सन्तुष्ट होकर चुप रहने

वाले नहीं थे। थोड़े ही दिनों में उन्होंने यह बात अनुभव कर ली थी कि सम्राट की छत्र-छाया में स्वशासन की प्राप्ति ही हमारा लक्ष्य होना चाहिए। उनका विश्वास था कि भारत के लिए स्वशासन कोई नई वस्तु नहीं है। उसका उपयोग वह बहुत प्राचीन काल से करता आरहा है। भारत की पिछड़ी हुई और अशिक्षित जनता को मानसिक और नैतिक अनुशासन सिखाने के लिए स्वशासन के अलावा और कोई अच्छा तरीका नहीं हो सकता। वे यह भी मानते थे कि अब वह समय आगया है जब सरकार को जल्दी ही इस दिशा में कदम बढ़ा देना चाहिए।

राजनैतिक लक्ष्य

इस प्रकार यद्यपि इस युग के नेताओं में बहुत-सी कमजोरियां थीं, वे बहुत-सी सीमाओं से बंधे हुए थे तथापि उनकी ईमानदारी में अविश्वास नहीं किया जा सकता। वह स्वतन्त्रता-संग्राम के सच्चे सिपाही थे। देश-प्रेम और राष्ट्रीयता की पुकार ही उन्हें मैदान में खींच लाई थी। यहां इसी प्रकार के कुछ प्रमुख नेताओं की जीवन-धारा पर प्रकाश डालना प्रासंगिक जान पड़ता है।

अपने अथक परिश्रम से देश में सुसंगठित राष्ट्रीय जीवन का निर्माण करने वाले नेताओं में दादाभाई नौरोजी का स्थान सबसे पहला है। कांग्रेस के जन्म से लेकर आगे २१ वर्ष तक वह ही राष्ट्रीय-भारत के सबसे बड़े नेता बने रहे, और अनेक तूफानों तथा हलचलों के बीच से देश को स्वराज्य की दिशा में आगे बढ़ाते रहे। श्री लालमोहन घोष ने उनके बारे में कहा था : "दादाभाई नौरोजी को देखकर उनके देशवासियों का हृदय सम्मान, ईर्षा तथा निराशा से भर जाता था। सम्मान उनकी देश-सेवा के कारण और निराशा यह सोचकर कि जितना काम उन्होंने किया है उतना हम नहीं कर सकते।" श्री गोखले ने उनके बारे में कहा था : "अगर मनुष्य में देवत्व हो सकना सम्भव है तो वह दादाभाई नौरोजी में है।"

दादाभाई नौरोजी

उनका जन्म बम्बई के एक पारसी परिवार में ४ सितम्बर सन् १८२५ को हुआ था। बचपन में ही पिता की मृत्यु हो जाने के कारण उनकी

शिक्षा-दीक्षा का सारा बोझ माँ पर पड़ा। माँ ने उन्हें अच्छी-से-अच्छी शिक्षा दिलाने का प्रयत्न किया। शिक्षा समाप्त करके वह बम्बई की उसी एल्फिस्टन इन्स्टीट्यूट में असिस्टेण्ट प्रोफेसर हो गए, जहां वह पढ़ते थे। सन् १८५६ में इस जगह से त्याग-पत्र देकर वह व्यापार के काम में लग गए और इङ्गलैंड में एक आदमी के साझे में व्यापार करते रहे। सन् १८७६ में वह बड़ौदा राज्य के दीवान बनाये गए। लेकिन अंग्रेज रेजीडेण्ट से मत-भेद हो जाने के कारण उन्होंने यह पद छोड़ दिया। अब व्यापार और राजनीति में ही उनकी सारी शक्ति लगने लगी। यह दोनों काम करते-करते ही सन् १९१७ के ३० जून को वह स्वर्गवासी हो गए।

राष्ट्रीय चेतना पैदा करने की दिशा में दादाभाई नौरोजी ने जो काम किये वह इतिहास में अमर रहेंगे। राजनैतिक दासता और आर्थिक शोषण पर उस समय जितना जोर उन्होंने दिया उतना अन्य किसी ने नहीं दिया। उन्होंने स्वयं कई समाचार-पत्र निकाले और अन्य कई पत्रों को सहायता और प्रेरणा दी। जन-जाग्रति की दिशामें काम करने वाली लगभग ३० राजनैतिक और सामाजिक संस्थाओं को उन्होंने जन्म दिया। सन् १८६६ में इन्होंने इङ्गलैंड में ईस्ट इंडियन असोसियशन की स्थापना की। इस संस्था का उद्देश्य था भारतीय समस्याओं में अंग्रेज-जनता की दिलचस्पी पैदा करना और भारतीय मांगों के अनुकूल जनमत बनाना। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के जन्म और संगठन में उनका बहुत बड़ा हाथ रहा। वह तीन बार कांग्रेस के सभापति बने और एक बार पार्लामेण्ट में चुने गए। उन्होंने भारत की उत्तरदायी शासन की मांग को बड़े उत्साह और जोश के साथ रखा तथा दिन-रात भारत के हितों के लिए काम किया।

भारतीय धन का शोषण उनके भाषणों और लेखों का प्रमुख विषय रहा करता था। भारतीय जनता की गरीबी का दृश्य कभी वह भूल नहीं पाते थे। अतः बारबार सेना के खर्च को घटाने, उद्योग-धन्धों को बढ़ाने तथा जनता को बहुत से करों के बोझ से मुक्त कराने के लिए वह बोलते और कार्य करते रहते थे। उन्होंने ही देश को स्वदेशी और स्वराज्य का मन्त्र दिया

और वैधानिक आन्दोलन की दिशा में उसका मार्ग-दर्शन किया।

श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी

श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी को हम राष्ट्रीय आन्दोलन का जनक कह सकते हैं। उनका जन्म बंगाल के एक कुलीन ब्राह्मण परिवार में हुआ था। वह उन इनेगिने लोगों में थे जिनका अपनी प्रतिभा के बल पर आई० सी.० एस० में प्रवेश हुआ था। लेकिन एक छोटी-सी भूल के कारण नौकरशाही ने उन्हें बरखास्त कर दिया। लेकिन यह अभिशाप देश के लिए वरदान हो गया। उन्होंने शिक्षा और पत्रकार कला को अपना लिया और जन-जाग्रति के कार्य में जुट गए। अब वह विद्यासागर कालेज में प्रोफेसर बन गए और बाद में वर्षों तक रिपन कालिज में काम करते रहे। साथ ही उन्होंने 'बंगाली' नामक पत्र का संपादन किया जो १७ वर्ष तक साप्ताहिक के रूप में निकल कर बाद में दैनिक बन गया। उन्होंने इण्डियन असोसिएशन नामक संस्था की स्थापना की जो आगे कई वर्षों तक काम करती रही। वह सन् १८८६ में कांग्रेस में सम्मिलित हुए और शीघ्र ही उसके बड़े-बड़े नेताओं में गिने जाने लगे।

वह पहले नेता थे जिन्होंने आई० सी० एस० की परीक्षा में उम्र घटाए जाने के प्रश्न को लेकर सारे देश का दौरा किया था, और लोगों में राजनैतिक जाग्रति पैदा करदी। वह प्रतिवर्ष कांग्रेस के अधिवेशन में सम्मिलित होते थे और चाहे कोई भी सभापति हो, वहाँ वही प्रमुख व्यक्ति दिखाई देते थे। उनकी भाषण-कला अद्भुत और अद्वितीय थी। सर हेनरी काटन ने लिखा है: "मुल्तान से लेकर चटगांव तक वह अपनी भाषण-कला से विद्रोह खड़ा कर सकते थे और दबा भी सकते थे।" इंग्लैंड में भी उनके भाषणों का बड़ा प्रभाव पड़ा था। श्री नेबीसन ने उनके भाषणों के बारे में लिखा था: "इस समय ग्लेडेस्टन को छोड़कर भाषण-कला में उनका मुकाबला करने वाला कोई व्यक्ति नहीं है। वह नरम विचार के नेता थे। विधान-वाद में उनका जबरदस्त विश्वास था। उनका आदर्श था ब्रिटिश सम्बन्धों में अटल विश्वास रखकर काम करना। वह अंग्रेजी राज्य को कुचलना नहीं चाहते थे बल्कि उसके आधार को व्यापक बनाना चाहते

थे। क्योंकि वह कहा करते थे : "अंग्रेजी सभ्यता संसार में सर्वोच्च है और वह भारतवासियों के लिए एक अपूर्व वरदान है।"

गोखलेजी का जीवन-चरित्र मानो प्रेरणा और स्फूर्ति की सजीव कहानी है। उनका जन्म ६ मई सन् १८६६ को रत्नागिरी जिले के एक ग्राम में एक ब्राह्मण-परिवार में हुआ था। १३ वर्ष की आयु में उनके पिता की मृत्यु हो गई और परिवार का सारा बोझ उनके बड़े भाई पर पड़ा। बेचारे बड़े भाई ने पढ़ना छोड़ दिया और नौकरी करली। लेकिन इतनी आय कहाँ हो सकती थी कि परिवार का खर्च पूरा करने के बाद छोटे भाई की पढ़ाई के लिए भी रुपये दिये जा सकें। अतः गोखलेजी को कठोर और त्यागपूर्ण जीवन व्यतीत करना पड़ा। वह कम पैसों में निर्वाह करने के लिए कई बार एक समय भोजन करते और रास्तों पर लगे हुए लैम्पों के प्रकाश में अध्ययन करते। वह बड़े प्रतिभाशाली युवक थे। १८ वर्ष की आयु में उन्होंने बी० ए० पास कर ली। वह चाहते तो आराम से जीवन व्यतीत कर सकते थे; लेकिन उन्होंने गरीबी, कष्ट-सहिष्णुता और त्याग का जीवन ही अपनाया। वह पूना के एक अंग्रेजी स्कूल में अध्यापक हो गए जो बाद में बढ़ते-बढ़ते फर्ग्यूसन कालेज के नाम से प्रसिद्ध हुआ। वह इस कालेज के प्रिंसीपल के पद तक पहुँच गए। कालेज से केवल ७५) मासिक लेकर ही वह अपना खर्च चलाते थे। उनके परिश्रम और त्याग से कालेज ने बड़ी प्रगति की।

श्री गोपालकृष्ण गोखले

अध्ययन समाप्त करने के बाद ही वह न्यायमूर्ति रानडे के सम्पर्क में आए। रानडे उस समय पूना के 'बेताज बादशाह' माने जाते थे। वह गोखलेजी की प्रतिभा से बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने उन्हें बम्बई राज्य की प्रमुख राजनैतिक संस्था 'सार्वजनिक सभा' का मन्त्री बना दिया। वह अपनी लगन, क्रियाशीलता और सेवा-भावना से शीघ्र ही प्रसिद्ध हो गए। सन् १८९९ में वह बम्बई की लेजिस्लेटिव असेम्बली के सदस्य निर्वाचित हुए और उनका राजनैतिक जीवन प्रारंभ हुआ। उन्होंने अपना काम इतनी तत्परता और सुन्दरता से किया कि इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल

के सदस्य बन गए। उन्होंने लार्ड कर्जन की स्वेच्छाचरिता की जबरदस्त खबर ली। उनके बजट सम्बन्धी भाषण तो कमाल के होते थे।

सन् १६०५ में वह कांग्रेस के बनारस-अधिवेशन के सभापति बने। इस समय उनकी आयु केवल ३६ वर्ष की थी लेकिन उन्होंने सभापति की हैसियत से जो भाषण दिया वह कांग्रेस के अच्छे-अच्छे भाषणों में गिना जाता है। सन् १६०७ के बाद जब कांग्रेस के दो दल हो गए उन्होंने उनकी कार्यवाही में प्रमुख भाग लिया। इस बीच में वह दक्षिण अफ्रीका भी गये और वहाँ जातीय भेद-भाव के विरुद्ध गांधीजी जो आंदोलन चला रहे थे उसे बल दिया। भारत के प्रतिनिधि के रूप में वह कई बार इंग्लैंड भी गये। उनका सबसे बड़ा रचनात्मक कार्य है 'भारत सेवक समाज' जिसके द्वारा उन्होंने समाज की सेवा करने वाले निस्वार्थ और सेवाभावी कार्यकर्ताओं का निर्माण किया। इस प्रकार सेवा करते-करते सन् १६१५ में उनका स्वर्गवास हो गया। उनकी मृत्यु से एक बहुत बड़ा देशभक्त, राजनीतिज्ञ और विद्वान् उठ गया।

यद्यपि गोखलेजी नरम विचार के नेता थे तथापि उनकी आलोचनाएं बड़ी मार्मिक होती थीं। वह कड़ी-से-कड़ी बात को नम्र शब्दों में कहने में सिद्धहस्त थे। उन्होंने सदैव अपने नम्रता पूर्ण एवं अनुशासित ढंग से सरकारी नीति की धज्जियां उड़ाई। बंग-भंग से उन्हें बड़ा दुख हुआ था। और उन्होंने यहाँ तक कह दिया था कि "जन-हित की दृष्टि से नौकरशाही के साथ सहयोग करने की सारी आशा मिट चुकी है।" लार्ड मार्लें ने उनके बारे में कहा था : "गोखलेजी का मस्तिष्क राजनीतिज्ञ का है और समझदारी जिम्मेदार शासक की।" उनके विचार, शब्द और कार्य में हमेशा सामञ्जस्य रहता था। वह उन गिने-चुने व्यक्तियों में से थे, जो जिस मार्ग को ठीक समझते थे उससे विचलित होना न जानते थे। उनका व्यक्तित्व बड़ा आकर्षक और प्रभावशाली था। जब वह बोलते थे तब ऐसा लगता था मानो फूलों की वर्षा हो रही है। लेजिस्लेटिव कौंसिल में उनकी जैसी योग्यता वाला दूसरा व्यक्ति नहीं था। जिस लार्ड कर्जन जैसे हठी साम्राज्यवादी से वह अकेले ही चार वर्ष तक युद्ध करते रहे उसीने उनको लिखा

था : "ईश्वर ने आपको असाधारण योग्यता प्रदान की है और आपने उसे स्वदेश के चरणों में अर्पित कर दिया है।" श्री सेसिंधम ने उनके बारे में लिखा था : "गोखले की बराबरी के बुद्धिमान राजनीतिज्ञ आज इंग्लैंड में भी नहीं हैं।" यह एक प्रसिद्ध कहावत है कि रानडे ने भारत को गोखले जैसा व्यक्ति दिया और गोखले ने गांधी जैसा। गोखले से अधिक बुद्धिमान लोग भारतीय राजनीति में कठिनाई से मिलेंगे। वही एक ऐसे व्यक्ति हैं, जिन्हें प्रथम युग की प्रवृत्तियों का ठीक प्रतिनिधित्व करनेवाला व्यक्ति कह सकते ।

: ८ :

द्वितीय युग का श्रीगणेश

नये युग का सूत्रपात

अब हम राष्ट्रीय जागरण के युग में प्रवेश कर रहे हैं। सन् १९०० से लेकर सन् १९१९ तक का यह युग उग्र विचारों के उदय और विकास का युग रहा है। २०वीं शताब्दी के प्रारम्भ होते ही हमें देश में एक नई स्फूर्ति और चेतना आती हुई दिखाई देती है। बात यह थी कि अब कुछ लोग यह अनुभव करने लगे थे कि वैधानिक आन्दोलन के द्वारा समस्या का हल नहीं मिल सकता। उसके लिए जबरदस्त आन्दोलन करना पड़ेगा। अतः इस युग में ऐसे नेता सामने आये जिन्होंने नरम विचार की कड़ी आलोचना की और कहा कि बिना आन्दोलन के भारत को कुछ भी नहीं मिल सकता। इस उग्रता को बढ़ाने वाली एक और बात हुई। अब पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति के प्रति लोगों का दृष्टिकोण बदलने लगा। अपना प्राचीन इतिहास, साहित्य, कला, संस्कृति, सभ्यता सब-कुछ उनके लिए गौरव की वस्तु बनने लगे और प्राच्य तथा पाश्चात्य सांस्कृतिक संघर्ष होने लगा।

जिन लोगों ने वैधानिक आन्दोलन की व्यर्थता अनुभव की उनमें लोकमान्य तिलक प्रमुख थे। वह भारतीय संस्कृति के प्रति नया दृष्टिकोण

लेकर आगे आये। वह स्पष्ट रूप से अनुभव कर रहे थे कि अंग्रेजों की कृपा पर अवलम्बित रहने से कुछ नहीं मिलेगा। यदि हम कुछ प्राप्त करना चाहते हैं तो उसके लिए क्रांतिकारी मार्ग का अवलम्बन करना होगा। अतः उन्होंने एक नई दिशा में कार्य करना आरम्भ किया। सन् १८९३ में उन्होंने 'गणपति उत्सव' तथा सन् १८९५ में 'शिवाजी उत्सव' प्रारम्भ किया। वह जो कुछ करना चाहते थे उसे खुलेआम करने का अवसर नहीं था। अतः उनका क्रान्तिकारी आन्दोलन धार्मिकता के आवरण में प्रारंभ हुआ। इन उत्सवों के द्वारा उन्होंने क्रांतिकारी विचारों का प्रचार किया। महाराष्ट्र में ये उत्सव मनाये जाने लगे तथा धीरे-धीरे अन्य भागों में भी इनका श्रीगणेश हुआ। उत्सव के अवसर पर धार्मिक बातों के साथ-साथ भाषण आदि कार्य-क्रम भी रखे जाते थे और सशस्त्र क्रांति की भूमिका तैयार की जाती थी लेकिन शिवाजी उत्सव में यह धार्मिक आवरण इतना नहीं था। इन उत्सवों की कल्पना कराने के लिए यहां हम उत्सवों के अवसर पर गाए जाने वाले गणपति-स्तोत्र और शिवाजी-स्तोत्र का अर्थ दे रहे हैं :

गणपति उत्सव और शिवाजी उत्सव

गणपति-स्तोत्र

"हाय गुलामी में रहकर भी तुम को लज्जा नहीं आती? इससे अच्छा यह है कि तुम आत्म-हत्या कर डालो। उफ्, दुष्ट हत्यारे कसाइयों की तरह गोवध करते हैं, गो-माता को इस दशा से छुड़ा लो। मर जाओ पर पहले अंग्रेज़ों को मारो तो सही। चुपचाप मत बैठ रहो। बेकार पृथ्वी का बोझ मत बढ़ाओ। हमारे देश का नाम तो हिन्दुस्तान है फिर यहां अंग्रेज़ क्यों राज करते हैं?"

शिवाजी-स्तोत्र

"केवल बैठे-बैठे शिवाजी की गाथा की आवृत्ति करने से स्वतन्त्रता नहीं मिल सकती। हमें तो शिवाजी और बाजीराव की तरह कमर कसकर भयानक कृत्यों के लिए जुट जाना पड़ेगा। मित्रो, अब आपको आजादी के लिए ढाल-तलवार उठा लेनी पड़ेगी। हमें शत्रुओं के सैंकड़ों झुण्डों

को काट डालना पड़ेगा। सुनो, हम राष्ट्रीय युद्ध के मैदान में अपने जीवन का बलिदान कर देंगे और आज उन लोगों के रक्त से, जो हमारे धर्म को नष्ट कर रहे हैं या आघात पहुँचा रहे हैं, पृथ्वी को रंग देंगे। हम मारकर ही मरेंगे और तुम लोग औरतों की तरह घर बैठकर हमारा किस्सा सुनोगे।"

मि० रेण्ड की हत्या

इन विचारों का महाराष्ट्र में प्रचार होने लगा। दुर्भिक्ष, कुशासन तथा गरीबी ने विरोधी भावना को और तीव्र कर दिया। एक ओर देश में दुर्भिक्ष फैल रहा था और दूसरी ओर सरकार उससे उदासीन रहकर महारानी विक्टोरिया की हीरक जयन्ती धूम-धाम से मनाने की तैयारी करने में व्यस्त थी। इन्हीं दिनों बम्बई में प्लेग फैली। सरकार ने एक प्लेग कमेटी बनाई। मि० रेण्ड प्लेग-कमिश्नर बनाये गए। प्लेग कमेटी को जहां लोगों की परेशानी कम करके उन्हें राहत पहुंचाना चाहिए था वहां उसने लोगों की परेशानी और बढ़ा दी। जिस किसी को प्लेग होता उसे कैम्प में जबरदस्ती भर्ती कर दिया जाता था। अपने प्रिय-जनों के साथ इतना सख्ती का व्यवहार लोगों को बड़ा बुरा लगा। वे कोशिश करने लगे कि जिन्हें प्लेग होगया है उन्हें कैम्प में न रखा जाय और इस उद्देश्य से प्लेग-पीड़ितों को छिपाने लगे। यह देख कर प्लेग कमेटी ने और सख्ती प्रारम्भ की। मिस्टर रेण्ड ने आज्ञा दी कि घरों में जा-जाकर तलाशी ली जाय। अब तो जनता में बड़ा रोष फैला। स्थिति इतनी बिगड़ी कि चाफेकर बन्धुओं ने मि० रेण्ड पर गोली चला दी। इस सिलसिले में एक और अंग्रेज़ लेफ्टीनेंट आयर्स्ट भी मारे गए। चाफेकर बन्धु पकड़े गए। उन पर मुकद्मा चला और फांसी पर लटक गए लेकिन लोगों के दिलों में जबरदस्त आग पैदा कर गए।

लोकमान्य तिलक को सजा

इस घटना से सरकार बौखला गई। उसने कड़ाई से दमन आरम्भ किया। लोकमान्य तिलक तथा 'प्रबोध' और 'वैभव' नामक पत्रों के संपादक इस दमन के शिकार बने। सरकार जानती थी कि इन क्रान्तिकारी प्रवृत्तियों

के पीछे लोकमान्य का हाथ अवश्य होगा। अतः उसने उन पर यह आरोप लगाया कि उनके पत्र 'केसरी' में जो आपत्तिजनक लेख और समाचार प्रकाशित हुए तथा शिवाजी जयन्ती के अवसर पर उन्होंने जो भाषण दिये उनसे उग्र विचारों का प्रचार हुआ है। शिवाजी द्वारा अफजल खाँ की मृत्यु का समर्थन करके उन्होंने अप्रत्यक्ष रूप से मि० रेण्ड की हत्या का समर्थन किया है। लोकमान्य पर मुकदमा चला और उन्हें डेढ़ वर्ष की सजा दे दी गई। 'वैभव' के सम्पादक नाटू-बन्धुओं को सन् १८६६ तक नजरबन्द रखा गया और उनकी सम्पत्ति जब्त कर ली गई। लोकमान्य को साधारण कैदियों की तरह रखा गया। जब मैक्समूलर जैसे प्रसिद्ध यूरोपीय विद्वान ने इस बात का विरोध किया तब कहीं उन्हें लिखने-पढ़ने की सुविधा दी गई।

कुशासन

इन घटनाओं का जनता के मस्तिष्क पर बड़ा असर हुआ। अंग्रेजी शासन के प्रति चली आने वाले आदर की भावना कम होने लगी। लोग यह सोचने लगे कि सरकार देश की उन्नति में बाधक हो रही है। देश की उन्नति के कार्यों में उसके सहयोग की आशा नहीं की जा सकती। लार्ड कर्जन के शासन काल में (सन् १८६५ से १६०५ तक) सरकार की ज्यादती और भी बढ़ी। उनके शासन-काल में ऐसे कठोर और दमनकारी कानून बने जिन्होंने चारों ओर असन्तोष पैदा कर दिया। जब देश में अकाल पड़ रहे थे तब लार्ड कर्जन ने बड़ी शान-शौकत से दिल्ली में दरबार किया। लार्ड कर्जन के शासन-काल में ही बने हुए इण्डियन यूनिवर्सिटी एक्ट और कलकत्ता कारपोरेशन पर सरकारी नियन्त्रण के कानूनों ने लोगों की मनो-भावना को बड़ी चोट पहुँचाई। इण्डियन यूनिवर्सिटी एक्ट के बारे में एक नेता ने कहा था: "यह राष्ट्रीय हितों को गुलाम बनाने का कानून है।" लार्ड कर्जन द्वारा तिब्बत तथा ईरान में ब्रिटिश मिशन भेजना और टेलिग्राफ मेसेज बिल तैयार करना भी ऐसे काम थे, जिनसे लोगों को धक्का लगा। अन्त में बङ्ग-भंग के निश्चय से तो मानो लार्ड कर्जन ने चारों ओर आग ही लगा दी। अब तो स्थिति इतनी

असह्य हो गई कि विरोध के लिए खड़े होने के अतिरिक्त कोई रास्ता ही नहीं रहा।

शासन की इन्हीं सब बुराइयों को देखकर गोखले जैसे नरम विचार के व्यक्ति ने भी कह दिया था : "यदि इस शासन की उपमा ढूंढ़नी हो तो औरंगजेब के युगमें जाना होगा। मेरा विचार है कि लार्ड कर्जन का सब से बड़ा भक्त और प्रशंसक भी यह बात नहीं कहेगा कि उसने अंग्रेजी शासन की नींव मजबूत बनाई है। इस समय जनता को दबाने के लिए सरकार नये-नये हथकण्डे अपना रही थी। वह फिर अपनी फूट डालो और शासन करो वाली नीति का आश्रय लेरही थी और मुसलमानों को कांग्रेस के विरुद्ध भड़का रही थी।"

गरीबी और बेकारी

पिछले पृष्ठों में हम देख चुके हैं कि अब तक राष्ट्रीयता के आन्दोलन में भाग लेने वाले कुछ ऐसे ही पढ़े-लिखे व्यक्ति थे जो अंग्रेजी शासन से असन्तुष्ट थे। आम जनता में असन्तोष की चिनगारी अभी नहीं फैली थी। लाला लाजपतराय ने अपनी 'यंग इंडिया' नामक पुस्तक में लिखा है : "दुनिया के स्वतन्त्रता के इतिहास में धनी और सम्पन्न व्यक्तियों ने कभी भी कहीं क्रान्तिकारी अथवा राजनैतिक आन्दोलन का सूत्रपात नहीं किया।" प्रथम युग के इन साधन-सम्पन्न नेताओं के द्वारा आन्दोलन का सूत्रपात संभव ही नहीं था। १९वीं शताब्दि के अन्तिम वर्ष आर्थिक मन्दी के वर्ष थे। बेचारे किसान और मजदूर तो परेशान थे ही। मध्यम श्रेणी के लोगों में जबरदस्त बेकारी और गरीबी फैल रही थी। अकाल, प्लेग और भूकंपों ने देश के सभी भागों के लोगों को पस्त कर दिया था। पर इधर बंगाल में सबसे ज्यादा बेकारी थी। प्रतिवर्ष हजारों विद्यार्थी कालेजों से पास होकर निकलते थे, जिन्हें कोई काम नहीं मिलता था। अधिकांश बंगाली युवक पढ़ने-लिखने में अपना ध्यान लगा रहे थे। अतः प्रान्त का व्यापार या तो विदेशी लोगों के हाथ में चला गया था या दूसरे प्रान्तों के लोगों के हाथ में। दूसरी ओर भारतीय व्यापार के बहुत-कुछ अंग्रेजों के हाथ में चले जाने से भारतीय उद्योगपति और व्यापारी भी परेशान थे। इस प्रकार

चारों ओर फैली हुई यह अशान्ति लोगों में बेकारी पैदा कर रही थी।

इस निराशा और दुख के वातावरण में कुछेक ऐसी घटनाएं भी घटीं जिन्होंने लोगों में उत्साह और बल का संचार किया। भारतीय जनता के सम्पर्क के बाद कुछ अंग्रेज विद्वान् उसकी प्राचीन संस्कृति, साहित्य, इतिहास और कला के अध्ययन में लग गए और उनके अध्ययन एवं खोज के परिणामस्वरूप कुछ ग्रन्थ प्रकाशित होने लग गए थे। इन ग्रन्थों में भारतीय इतिहास के उज्ज्वल पृष्ठों पर प्रकाश डाला गया और उसकी कला, संस्कृति, आदि की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की गई थी। अतः इन ग्रन्थों ने लोगों में आत्म-विश्वास और आत्म-गौरव की भावना भरना प्रारंभ किया। इधर आर्यसमाज, थियॉसाफिकल सोसायटी और रामकृष्ण मिशन जैसी संस्थाएं भी प्राचीनता का गौरव और राष्ट्रीयता की भावना भर रही थीं। परिणाम यह हुआ कि लोगों में स्वदेश, स्वधर्म, एवं स्वसंस्कृति के प्रति अधिकाधिक आकर्षण पैदा होने लगा।

अन्तर्राष्ट्रीय घटनाएं

इसी समय अन्तर्राष्ट्रीय जगत में भी कुछ ऐसी घटनाएं घटीं जिन्होंने इस उत्साह को और बढ़ा दिया। सन् १८९४ में अबीसीनिया की फौज ने इटली के आक्रमण को विफल कर दिया। कहां साधनहीन अबीसीनिया की पुराने ढंग की फौज और कहां आधुनिक शस्त्रास्त्रों से लैस इटली की फौज। अतः इस घटना ने भारतीय जनता के इस विश्वास को निर्मूल सिद्ध कर दिया कि पाश्चात्य सेना-शक्ति अजेय है। मिश्र, फारस, टर्की और रूस में भी इन्हीं दिनों स्वतन्त्रता के आन्दोलन हुए और उनकी सफलता ने भी भारतीय जगत में उत्साह का संचार किया। सन् १९०४ में रूस जैसे विशाल देश की सेना को जापान जैसे छोटे देश की सेना ने पराजित कर दिया। इस घटना ने तो मानो भारतीय लोगों की हीन भावना को बड़े जोर से झकझोर दिया। नवयुवक बड़े उत्साह से जापान की विजय के कारण ढूंढ़ने लगे। और सोचने लगे कि भारत जैसा विशाल देश छोटे से इंग्लैण्ड को पराजित क्यों नहीं कर सकता? इस उत्साह और विश्वास की भावना को दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों के प्रति होने वाले

दुर्व्यवहार ने और तीव्र बना दिया। वहां गोरों के अत्याचार और भेदभाव अधिकाधिक बढते जा रहे थे। भारतीय लोग न गोरों के होटल में जा सकते थे न उनकी रेल, मोटरों में ही बैठ सकते थे। इतना ही नहीं गोरों के मुहल्ले सड़क आदि का उपयोग भी भारतीय जनता के लिए मना था। उनके नागरिक अधिकारों का अपहरण करने वाले कानून दिन-प्रति-दिन बनते जा रहे थे।

गरम दल और क्रान्तिकारी दल का निर्माण

बीसवीं शताब्दि के प्रारम्भिक वर्षों पर इन्हीं सब बातों का प्रभाव पड़ रहा था। अतः इन कारणों से जो आन्दोलन प्रारम्भ हुआ उसे हम दो अलग-अलग विचार-धाराओं से काम करते हुए देखते हैं। गरम दल और क्रान्तिकारी दल इन्हीं दो विचार-धाराओं के परिणाम हैं। दोनों दलों का एक ही लक्ष्य था, मार्ग अलग-अलग। गरम दल वालों की रुचि प्रभावशाली, राजनैतिक आन्दोलन एवं राष्ट्रीय नव-निर्माण के कार्य में थी, क्रान्तिकारियों की रुचि हिंसा, आतंकवाद और तोड़-फोड़ में।

बंग-भंग

इस नाजुक स्थिति में ही शासन की सुविधा का बहाना लेकर लार्ड कर्जन ने बंगाल के दो टुकड़े करने का निश्चय कर लिया। यह बात लोगों को पहले ही मालूम हो गई थी और कांग्रेस के १६वें तथा २०वें अधिवेशनों में उस पर चर्चा भी हुई थी। लोगों का खयाल था कि जनता की भावना का खयाल करके सरकार उसे कार्यान्वित नहीं करेगी लेकिन जब उसकी संभावना स्पष्ट दिखाई देने लगी तो समूचे देश में—खासकर बंगाल में बड़ी हलचल मच गई। इस योजना के अनुसार तत्कालीन बंगाल दो टुकड़ों में बांटा जाने वाला था। बंगाल के पूर्वी जिले ढाका, राजशाही और चटगांव आसाम के साथ मिला दिये जाने वाले थे और उनका नाम रखा जाने वाला था पूर्वी बंगाल और आसाम। शेष भाग बिहार और उड़ीसा के साथ मिलाकर बंगाल नाम का प्रान्त बनाया जाने वाला था। इस योजना ने सारे बंगाल निवासियों को चौंका दिया। वे गुस्से से कांप उठे। इस कदम से उनकी राष्ट्रीय भावना को बड़ी चोट

लगी। वस्तुतः यह कदम बंगाल की एकता को भंग करने के लिए उठाया गया था। इसके द्वारा लार्ड कर्जन हिन्दुओं और मुसलमानों में फूट डालना चाहते थे ताकि लोगों की राष्ट्रीय भावना को कुचला जा सके।

सरकार के जिम्मेदार अधिकारियों ने यह कहना प्रारम्भ किया कि इस विभाजन से मुसलमानों को बड़ा लाभ होने वाला है। पूर्व बङ्ग और आसाम में उनका बहुमत हो जायगा, जिसके परिणाम-स्वरूप उनको ऐसे बहुत से लाभ मिलेगें जो अखण्ड बंगाल में अल्पमत के रूपमें उनको नहीं मिलते। इस नव-निर्मित पूर्व बङ्ग और आसाम प्रांत के गवर्नर ने तो स्पष्ट शब्दों में कह दिया था : "सरकार की दो पत्नियां हैं हिंदू और मुसलमान; इनमें मुसलमान पत्नी पर उसकी विशेष कृपा है।

बहिष्कार और स्वदेशी आन्दोलन

इन दिनों चीन अमरीका के माल का बहिष्कार कर रहा था और इस काम में उसे बड़ी सफलता मिल रही थी। भारतीय जनता को बहिष्कार का नारा उपयोगी लगा और उसने उसे अपना लिया। विरोध की यह प्रणाली नरम और गरम दोनों दलों को पसन्द आई। श्री कृष्ण-कुमार मित्र ने लोगों से अपील की कि "हम लोग मातृभूमि का नाम स्मरण कर स्वदेश के कल्याण के लिए यह प्रतिज्ञा करें कि यदि भविष्य में हमें स्वदेशी माल मिलेगा तो विदेशी माल हरगिज नहीं खरीदेगें। ऐसा करने में यदि हमें आर्थिक या अन्य किसी प्रकार की कठिनाई भी उठानी पड़े तो हमें वह सहर्ष उठानी चाहिए। यह बात केवल हम ही नहीं करें अपने मित्रों से भी करवाएं। बंगाल के सारे पत्रकारों और सारे साहित्य-कारों ने इस नारे को अपना लिया और इसका खूब प्रचार किया। भारतीय व्यापारियों को भी यह नारा पसन्द आया क्योंकि इस नारे के द्वारा देशी उद्योग-धन्धों और व्यापार की उन्नति की संभावना बढ़ गई।

राखी और उपवास

सरकार ने घोषणा की कि १६ अक्तूबर से बंगाल के दो टुकड़े कर दिये जायंगे और उस दिन से दो प्रान्त अलग-अलग काम करने लगेंगे। श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने एक अपील निकाल कर लोगों से कहा कि: "सरकार

तो हम सब को अलग-अलग करने पर तुली हुई है लेकिन हम लोग हृदय से अलग नहीं हो सकते।" इसी एकता की भावना का प्रदर्शन करने के लिए उन्होंने कहा : "१६ अक्तूबर के दिन राखी बांधी जाय क्योंकि राखी एकता की प्रतीक है।" एक दूसरे साहित्यकार श्री रामेन्द्र सुन्दर त्रिवेदी ने कहा कि इस दिन कहीं पर भी चूल्हा न जलाया जाय। सब लोग उपवास रखें। जनता पर इन दोनों अपीलों का असर हुआ और उस दिन उपवास एवं राखी कार्यक्रम के प्रमुख अंग बन गए।

१६ अक्तूबर का कार्यक्रम

१६ अक्तूबर का दिन समूचे बंगाल प्रान्त में शोक-दिवस के रूप में मनाया गया। प्रातः काल से ही नर-नारियों के झुण्ड वन्देमातरम् गाते हुए घरों से निकल पड़े। वह मार्ग में जो कोई भी मिलता उसे राखी बांध देते। कीर्तन करने वाले दल कीर्तन कर रहे थे। चारों ओर राष्ट्रीयता की उदात्त भावना का दर्शन हो रहा था। बहुत से लोगों ने इस दिन उपवास रखा। सन्ध्या समय सब जगह सभाएं की गईं। कलकत्ता में बूढ़े नेता श्री आनन्दमोहन वसु के सभापतित्व में सभा हुई। उन्होंने घोषणा की कि : "चूंकि बंगाली जाति के विरोध को न मानकर पार्लामेंट ने बङ्ग-भङ्ग करना उचित समझा है इसलिए हम यह प्रतिज्ञा करते हैं कि बङ्ग-भङ्ग के कुपरिणामों को नष्ट करने के लिए तथा बंगाली जाति की एकता की रक्षा करने के लिए हम लोगों से जो कुछ बन पड़ेगा करेंगे। ईश्वर हमारी सहायता करे।"

इसी दिन कलकत्ता में संध्या समय एक और सभा हुई जिसमें लगभग एक लाख व्यक्ति उपस्थित थे। इस सभा में स्वदेशी वस्त्र तैयार करने के लिए एक कोष खोला गया। इस कोष में उसी समय ५० हजार रुपये जमा हो गए और २० हजार रुपये बाद में आगए। विदेशी वस्त्र का बहिष्कार और स्वदेशी का प्रचार भी इस दिन का प्रमुख कार्यक्रम रहा। बहुत स्थानों में विदेशी वस्त्रों की होली जलाई गई और विदेशी माल की दूकानों पर धरने दिये गए। आंदोलन को दबाने के लिए सरकार ने वन्देमातरम् गाने पर पाबन्दी लगा दी तथा अन्य तरीकों से भी दमन प्रारम्भ किया। लेकिन इन बातों ने जनता की भावना को दबाने के बजाय उभारा ही।

उससे क्रान्तिकारी भावनाओं को बड़ा पोषण मिला। मालवीयजी ने कहा था : "इतना बड़ा दमनचक्र उस समय चलाया जा रहा था जब कि लोगों में हिंसा की भावना नाममात्र के लिए भी नहीं थी।" अतः इस दमन का परिणाम यह हुआ कि असन्तोष की चिनगारी अन्य प्रान्तों में भी फैली और वहां के लोगों ने भी अपनी-अपनी समस्याएं इस आन्दोलन के साथ जोड़ दीं और इसे बल पहुंचाया। स्त्रियों ने पहली बार घर से बाहर निकल कर आन्दोलन में भाग लिया। स्वदेशी के नारे को सफल बनाने के लिए उन्होंने बड़ा योग दिया।

कांग्रेस का २१वां अधिवेशन

बङ्ग-भङ्ग के बाद बनारस में सन् १९०५ में कांग्रेस का २१ वां अधिवेशन हुआ। सभापति श्रीगोखले ने अपने भाषण में कहा : "बङ्ग-भंग के परिणाम-स्वरूप जो जाग्रति बंगाल में हुई है उसका हमारे राष्ट्रीय इतिहास में बहुत बड़ा स्थान है। हमारे इतिहास में यह पहला ही अवसर है जब कि धर्म और जाति-पांति के भेद-भाव को भूलकर बाहर की सहायता की परवाह किये बिना बंगाली लोग अपनी स्वाभाविक वृत्ति से आगे बढ़ रहे हैं। बंगाल के नेताओं ने अपने त्याग और तपस्या से जनता की सेवा के आदर्श को बहुत ऊंचा उठा दिया है।" उन्होंने अपने भाषण में स्वदेशी का समर्थन किया और उस पर विस्तार के साथ प्रकाश डाला। अधिवेशन में बंग-भंग पर एक प्रस्ताव रखा गया जिस पर बोलते हुए श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने उन सारे अत्याचारों का वर्णन किया जो आन्दोलन को दबाने के लिए सरकार ने किये थे। पं० मदनमोहन मालवीय ने एक प्रस्ताव में बहिष्कार का समर्थन किया और कहा : "ब्रिटिश जनता का ध्यान आकर्षित करने के लिए हमारे पास यही एक तरीका है।" लाला लाजपतराय ने इसका समर्थन करते हुए कहा : "देश की गरीबी मिटाने का यही एक-मात्र उपाय है।"

बारीसाल सम्मेलन

सन् १९०६ में बारीसाल में एक राजनैतिक सम्मेलन हुआ। इसमें समूचे बंगाल के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए थे। बारीसाल में वंदेमातरम् का नारा गैर-कानूनी घोषित हो चुका था और बहुत-से युवक इस कानून को भंग करके जेल जा

चुके थे। पुलिस ने सम्मेलन के संयोजकों को बुलाकर जब उनसे वचन लिया कि वन्देमातरम् का नारा नहीं लगाया जायगा तब सम्मेलन करने की इजाजत दी। जब प्रतिनिधि लोग आये और उन्होंने इस वचन का समाचार सुना तो वह बड़े बिगड़े। आखिर यह तय हुआ कि सम्मेलन के पहले दिन सब प्रतिनिधि मिलकर वन्देमातरम् का नारा लगायंगे और जलूस बनाकर सभा-स्थल पर पहुँचेंगे। इस निश्चय के अनुसार प्रतिनिधियों ने इकट्ठे होकर वन्देमातरम् का नारा लगाया और वह जलूस बना कर सभा-स्थल की ओर चले। सबसे आगे सभापति बैरिस्टर एजाज रसूल की गाड़ी थी और पीछे अन्य नेता तथा प्रतिनिधिगण थे। जैसे ही ये लोग बाहर निकले पुलिस ने उनपर हमला कर दिया और लाठी बरसाने लगी। प्रतिनिधि भी उत्तेजित होगए। वह भी जोर-जोर से वन्देमातरम् का नारा लगाने लगे। पुलिस ने लाठी-चार्ज के बाद श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी को गिरफ्तार कर लिया और उन पर जुर्माना कर दिया। जुर्माना देकर वह सभा-स्थल में आ गए। सम्मेलन की कार्यवाही शुरू हुई। भाषणों में इस दमन और अत्याचार की खूब निन्दा की गई। दूसरे दिन जब फिर सम्मेलन शुरू हुआ तो पुलिस सुपरिंटेन्डेन्ट ने कहा या तो वह वचन दें कि वन्देमातरम् का नारा नहीं लगायंगे या सभा भंग कर दें। प्रतिनिधियों ने सभा भंग करना ही ठीक समझा और वह वहां से चले आए।

इस घटना ने बंगाल ही नहीं अन्य प्रांतों के लोगों को भी उत्तेजित कर दिया। श्री एजाज रसूल उन मुसलमानों में थे जो इस सरकारी प्रचार के बावजूद बङ्ग-भङ्ग को अच्छा नहीं समझते थे कि पूर्वी बंगाल और आसाम पूरी तरह मुसलमानों का प्रान्त है। इस घटना ने इतना असर किया कि आन्दोलन तूफान की गति से चलने लगा। अब तो लोगों के मन में पाश्चात्य शिक्षा से भी नफरत होने लगी। नेशनल कौंसिल आफ एजूकेशन नामक एक संस्था की स्थापना हुई जिसने एक लाख रुपया चन्दा इकट्ठा करके स्कूल और कालेज खोले और अपने स्वतन्त्र ढंग से शिक्षा-कार्य प्रारम्भ कर दिया। इस तरह बङ्ग-भंग ने जैसे समूचे राष्ट्र में नई चेतना का संचार कर दिया।

: ६ :

क्रान्तिकारी आन्दोलन

गुप्त-समितियों का संगठन

वंग-भंग के विरोध में जनता ने अपनी पूरी ताकत लगा दी थी लेकिन जब कोई परिणाम नहीं निकला तो कांग्रेस और उसके वैधानिक मार्ग पर से युवकों का विश्वास हटने लगा। वह सोचने लगे कि प्रार्थना करने, अर्जियाँ देने और विधान की सीमाओं में विरोध करने से सरकार पर कोई प्रभाव नहीं डाला जा सकता। अब तो बल-प्रयोग के बिना कुछ मिलने वाला नहीं है। अतः वह हिंसा और आतंकवाद की ओर आकर्षित होने लगे। लेकिन इतनी बड़ी संगठित और शक्तिशाली सरकार का मुकाबला शस्त्र-बल से करना बड़ा कठिन था। इन दिनों इटली में गुप्त समितियां इसी प्रकार के क्रान्तिकारी-कार्य कर रहीं थीं। नवयुवकों को वहां की गुप्त-समितियों से बड़ी प्रेरणा मिली। यह कल्पना सबसे पहले श्री अरविन्द घोष के छोटे भाई श्री वारीन्द्र घोष तथा सखाराम देवस्कर के दिमाग में आई। वारीन्द्र ने इसी दृष्टि से सारे बंगाल का दौरा किया लेकिन इस समय उन्हें परिस्थिति अनुकूल प्रतीत नहीं हुई। वंग-भंग के बाद यह स्थिति बड़ी तेजी से बदली। अतः वारीन्द्र ने फिर बंगाल का दौरा किया। इस बार स्थिति अनुकूल थी। अतः उन्होंने जगह-जगह लोगों को अखाड़े खोलने के लिए प्रोत्साहित किया। अखाड़े खुले तो वहां शस्त्रास्त्रों की शिक्षा भी प्रारम्भ हुई। इन अखाड़ों में राजनैतिक विषयों पर चर्चा भी होने लगी। वारीन्द्र ने लोगों से कहा कि हमें सैंकड़ों-हजारों लोगों के खून की जरूरत है ताकि उसकी धारा में गुलामी को बहाया जासके। उस समय वारीन्द्र ही क्रांतिकारी आन्दोलन के प्रमुख नेता थे। उनके नेतृत्व में ऐसे त्यागी और तपस्वी युवकों के संगठन का कार्यक्रम प्रारम्भ हुआ जो मातृ-भूमि की स्वतन्त्रता के लिए अपने को बलिदान कर सकें। हेमचन्द्र नाम का उनका

एक साथी इस उद्देश्य से पेरिस गया कि वहां रूसी क्रांतिकारियों के सम्पर्क में रह कर उनसे बम बनाना सीखे। इधर बाबू अश्विनीकुमार दत्त ने 'अनुशीलन समिति' का संगठन प्रारम्भ किया। देखते-देखते अनुशीलन समिति की ५०० शाखाएं काम करने लगीं। वह बंगाल के प्रत्येक शहर और कस्बे में फैल गई। अब ग्रामों में भी उसका काम प्रारम्भ हो गया। ढाका और कलकत्ता इस समिति के केन्द्र-स्थान थे।

वन्देमातरम और युगान्तर

इस समय 'वन्देमातरम्' और 'युगान्तर' नामक दो समाचार-पत्र जन-जाग्रति के कार्य में बहुत भाग ले रहे थे। 'वन्देमातरम' के सम्पादक-मण्डल में श्री विपिन-चंद्रपाल जैसे मंजे हुए नेता भी थे। इस पत्र में अक्सर श्री अरविन्द घोष के लेख प्रकाशित होते रहते थे। इसी पत्र में 'नया मार्ग' के नाम से उन्होंने एक लेखमाला प्रकाशित कराई थी। इस लेखमाला में उन्होंने लिखा था कि इस प्रकार सरकार के सामने हाथ फैलाने से कुछ मिलनेवाला नहीं है। 'युगान्तर' के सम्पादक थे श्री भूपेन्द्रकुमार दत्त जो स्वामी विवेकानन्द के छोटे भाई थे। श्री अरविन्द 'युगान्तर' में भी लिखते रहते थे। ये दोनों पत्र बड़े लोकप्रिय हो रहे थे। 'युगान्तर' की ग्राहक संख्या ५०००० तक पहुंच गई थी और उसके एक-एक अंक को २०-२० व्यक्ति पढ़ते थे। ये पत्र पूर्ण-स्वतन्त्रता का प्रचार कर रहे थे। और कहते थे कि क्रांतिकारी तरीकों से ही देश स्वतन्त्र हो सकता है।

पत्रों पर सरकार की वक्र-दृष्टि

इन पत्रों के क्रान्तिकारी विचारों से सरकार सतर्क तो थी ही; अब स्थिति विषम बनते देखकर उसने दमन-चक्र चला दिया। 'युगान्तर' के सम्पादक श्री भूपेन्द्रनाथ दत्त तथा उसके प्रकाशक पकड़ लिये गए। श्री किंग्जफोर्ड की अदालत में उन पर मुकदमा चला। श्री दत्त को एक वर्ष की और प्रकाशक को दो वर्ष कैद की सजा दे दी गई। इसके बाद 'वन्दे-मातरम्' और 'सन्ध्या' नामक पत्रों का नम्बर आया। यह भी उग्र विचारों का प्रचार कर रहे थे। इनके सम्पादक श्री अरविन्द और ब्रह्मबान्धव पकड़ लिये गए। उन पर मुकदमा चला। श्री अरविन्द के मुकदमे में श्री विपिन-

चन्द्रपाल को गवाही देने के लिए बुलाया गया। उन्होंने गवाही देने से इंकार कर दिया। अतः उन पर भी अदालत की मानहानि का मुकदमा चला। इस घटना से छात्रों में बड़ा रोष फैला। फैसले के दिन अदालत के सामने प्रदर्शन हुआ। सुशीलसेन नामक एक छात्र को इस सम्बंध में पकड़ा गया और उसे श्री किंग्ज़फोर्ड ने बेत की सजा दी। श्री विपिनचन्द्र पाल को छः मास की कैद की सजा दी गई। श्री अरविन्द घोष छूट गए। लेकिन ब्रह्मबान्धव ने अदालत से असहयोग किया। उन्होंने कहा, "मैं स्वराज्य आन्दोलन को ईश्वर के आदेश से चला रहा हूं। अतः इसके लिए मैं सरकार के सामने सफाई नहीं दे सकता।"

सिडीशस मीटिंग्ज एक्ट

देश-भक्ति और राष्ट्रीयता के प्रचार करनेवाले इन पत्रों पर सरकार ने जो प्रहार किया उससे आन्दोलन दबना तो दूर और तीव्र हो गया। जगह-जगह सभाओं में सरकार की नीति की कड़ी आलोचनाएं होने लगीं। इस समय बंगाल के सभी लोग श्री किंग्जफोर्ड से बहुत चिढ़े हुए थे क्योंकि ये सारे मुकदमे उन्हीं-की अदालत में चलते थे। सरकार इन सभाओं से परेशान हो गई। इन को बन्द करने के लिए उसने सन् १९०७ के १ सितम्बर को 'सिडीशस मीटिंग्ज एक्ट' नामक एक कानून बना दिया। इस कानून के द्वारा सारे भारत में सभाओं पर पाबन्दी लगा दी गई। सरकार के इस कदम ने खुले-आम लोगों को अपने विचार प्रकट करने और उनका प्रचार करने से रोक दिया। परिणाम यह हुआ कि यही काम अब गुप्त रूप से होने लगा।

पूर्वी बंगाल के गवर्नर पर बम तथा अन्य घटनाएं

क्रान्तिकारी कार्यों का श्रीगणेश पूर्वी बंगाल के गवर्नर की हत्या करने के षड्यन्त्र से प्रारम्भ हुआ। गवर्नर के कारनामों से लोग बहुत क्रोधित थे। अतः उसे मारने का दो बार प्रयत्न किया गया। इसमें से एक बार मिदनापुर के पास गवर्नर की गाड़ी पटरी से उतर गई और वह बाल-बाल बचे। पुलिसने इस घटना की जो रिपोर्ट दी थी, उसमें कहा गया था कि रेल की पटरी पर जो बम फूटा था उससे पांच फुट चौड़ा और पांच फुट गहरा गड्ढा हो गया था। यह घटना सन् १९०७ के दिसम्बर मास में हुई थी।

२३ दिसम्बर के दिन ढाका के भूतपूर्व डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट श्री एलन की पीठ में गोली मार दी गई। यह घटना फरीदपुर जिलेके एक रेलवे स्टेशन पर हुई। सन् १९०८ के ३० अप्रैल को श्री किंग्जफोर्ड पर एक घातक आक्रमण करने का प्रयत्न किया गया लेकिन धोखे में उनके बजाय श्रीमती केनेडी और कुमारी केनेडी मारी गईं। इन दिनों मि० किंग्जफोर्ड मुजफ्फरपुर में ही थे। इस कार्य के लिए खुदीराम बोस और प्रफुल्ल चाकी नाम के दो नवयुवक बाहर से यहां आये थे। इस आक्रमण के बाद प्रफुल्ल चाकी ने आत्महत्या कर ली और खुदीराम बोस को फांसी की सजा हो गई।

अलीपुर षड्यन्त्र

इन घटनाओं के बाद २ जून को पुलिस ने कलकत्ता के मानकतल्ला में एक बम के कारखाने का पता लगाया। श्री अरविन्द घोष, श्री वारीन्द्रनाथ घोष सहित कुल ३४ व्यक्ति इस सम्बन्ध में गिरफ्तार किये गए। इनके ऊपर बादशाह के विरुद्ध लड़ाई की तैयारी करने का आरोप लगाया गया। मुकद्मा चला और गिरफ्तार व्यक्तियों में से नरेन्द्र गोस्वामी नामक एक व्यक्ति मुखबिर बन गया। इस बातसे नाराज होकर कन्हाईलाल और सत्येन्द्र नामक युवकों ने जेल में पिस्तौल मंगाकर नरेन्द्र गोस्वामी की जीवन-लीला समाप्त कर दी। इन दोनों को भी फांसी की सजा हो गई। शेष व्यक्तियों पर जो मुकद्मा चला वह अलीपुर षड्यन्त्र के नाम से प्रसिद्ध है। सब लोगों को कालेपानी की सजा हुई। २४ फरवरी सन् १९०९ को इस मुकद्मे के सरकारी वकील श्री आशुतोष विश्वास की भी हत्या कर दी गई और २४ जनवरी १९१० को सरकार की ओर से मुकद्मा चलाने वाले डिप्टी-सुपरिन्टेन्डेन्ट पुलिस को भी यमलोक पहुंचाया गया।

क्रान्ति-कार्य चलते रहे

सरकार के कड़े रुख के बावजूद क्रान्तिकारी-कार्यों की श्रृङ्खला भंग नहीं हुई। कहीं डाके डाले जाते थे और कहीं बम फेंके जाते थे। सन् १९१० के मार्च महीने में हावड़ा षड्यन्त्र चला जिसमें लगभग ५० व्यक्ति पकड़े गए और उन पर भी वही मुकद्मा चला। सरकार सारे क्रान्तिकारियों को गिन-गिन कर खत्म कर डालना चाहती थी। लेकिन अब तो क्रान्तिकारी आन्दोलन काफी फैल

चुका था। इसी वर्ष जुलाई में ढाका षड्यन्त्र चला। इसमें भी बहुत से क्रान्तिकारियों को फांसा गया। सन् १९११ में बम की १८ घटनाएं हुईं, जिनमें १६ पूर्वी बंगाल में हुई थीं। इसके बाद आन्दोलन कुछ शिथिल-सा दिखाई देता है। पहले महायुद्ध के बाद तक इधर-उधर डाकों की घटनाएं होती रहीं और कहीं-कहीं एक दो व्यक्तियों ने घातक आक्रमण भी किये।

पंजाब में भी दमन

अभी तक जिन घटनाओं का वर्णन किया गया है वह सब बंगाल की हैं लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि अन्य प्रान्त एकदम पिछड़े हुए थे। पंजाब में 'इंडिया' और 'पंजाबी' नामक पत्र राष्ट्रीयता का प्रचार कर रहे थे। सरकार ने इन पत्रोंके सम्पादक और प्रकाशकों को पकड़ लिया और जेल भेज दिया। इसी समय सरकार ने लगान बढ़ाया। अतः इस प्रश्न को लेकर किसानों में असन्तोष फैला। लाला लाजपतराय इस समय पंजाब के सबसे बड़े नेता थे। उन्होंने इसके विरुद्ध आन्दोलन शुरू किया। सन् १९०७ के मई मासमें वह गिरफ्तार कर लिये गए। अब तो जनता में और भी अशान्ति फैली। तत्कालीन गवर्नर ने उनपर क्रान्तिकारी होने का आरोप लगाया और उनको मांडले भेज दिया गया। इस खबर से लोगों में बड़ी बे-चेनी फैल गई।

महाराष्ट्र की क्रांतिकारी हलचलें

लोकमान्य तिलक का 'केसरी' नामक पत्र महाराष्ट्र में बड़ी तेजी से राष्ट्रीयता और उग्रविचारों का प्रचार कर रहा था। खुदीराम बोस के प्रश्न को लेकर लोकमान्य ने 'केसरी' में बहुत से लेख लिखे। यद्यपि इन लेखों में उन्होंने आंतकवाद की निन्दा की थी तथापि सरकार की नीति की भी कड़ी आलोचना की थी। सरकार इसे कैसे सहन करती ? लोकमान्य पर तो उसकी वक्रदृष्टि थी ही। २४ जून सन् १९०८ को 'केसरी' के इन्हीं लेखों के सम्बन्ध में वह गिरफ्तार कर लिये गए। मुकदमा चला और २२ जुलाई को उन्हें ६ मास की सख्त कैद और १०००) जुर्माना की सजा सुना दी गई जज ने जब पूछा कि उन्हें कुछ कहना है तो वह बोले : "जूरी के इस फैसले के बावजूद मैं कहता हूँ कि मैं निर्दोष हूँ। संसार में ऐसी बड़ी शक्तियां हैं जो सारे संसार को चलाती हैं। संभव है, ईश्वर की यही इच्छा हो कि जो

कार्य मुझे प्रिय है वह मेरे आजाद रहने की अपेक्षा मेरे कष्ट-सहन से ही अधिक फले फूले।" उनके ये शब्द भारत के घर-घर में गूंज गए।

महाराष्ट्र की क्रान्तिकारी हलचलों का केन्द्र नासिक था। यहां सावरकर-बन्धुओं ने 'भारत मेला' तथा 'अभिनव भारत सोसायटी' की स्थापना की थी। इन संस्थाओं की स्थापना इसी संगठन के आधार पर हुई थी। ये लोग राजनैतिक हत्याओं के द्वारा इतना आतंक फैलाना चाहते थे कि सरकार के लिए काम करना कठिन हो जाय। सरकार की इस संस्था पर कड़ी नजर थी। ९ जून सन् १९०९ को गणेश दामोदर सावरकर को 'लघु अभिनव भारत मेला' नामक कविता पुस्तक के कारण आजन्म काले-पानी की सज़ा दे दी गई। नासिक के जिला मैजिस्ट्रेट श्री जेक्सन थे। उन्हीं की अदालत में ही यह मामला चला था। सन् १९०९ के २१ दिसम्बर को उनकी विदाई में एक पार्टी हुई। बस यहीं उन पर गोली चला दी गई। पुलिस ने इन संस्थाओं के कई सदस्यों को गिरफ्तार किया और उनमें से २७ व्यक्तियों को भारी-भारी सजाएं दे दीं। सतारा और ग्वालियर में भी इस संस्था के सदस्यों का इसी तरह दमन किया गया। नवम्बर १९०९ में अहमदाबाद में लार्ड मिन्टो और लेडी मिन्टो पर भी घातक आक्रमण करने का प्रयत्न किया गया।

विदेशों में भी क्रान्तिकारी आन्दोलन

क्रान्तिकारी आन्दोलन की चिनगारियां अब विदेशों में भी जा पहुँची और वहाँ भी भारतीय क्रान्तिकारियों ने समितियां बनाकर काम करना प्रारम्भ कर दिया। यह काम सब से पहले श्री श्यामजी कृष्ण वर्मा ने प्रारम्भ किया। रेण्ड हत्याकांड के जमाने से ही श्यामजी कृष्ण वर्मा पर सरकार की वक्र-दृष्टि थी। सरकार का रुख पहचान कर वह इंग्लैण्ड चले गए और वहीं रहने लगे। जवनरी सन् १९०५ में इन्होंने इंडिया होम रूल सोसायटी नामक संस्था की स्थापना की और वहां के भारतीय विद्यार्थियों में काम करने लगे। इसी संस्था का एक मासिक पत्र भी वह निकालने लगे, जिसका नाम था 'इंडियन सोशालाजिस्ट'। उन्होंने भारतीय विद्यार्थियों को विदेशों में जाकर वहां के स्वतंत्रता आन्दोलन का अध्ययन करने के लिए काफी प्रोत्सा-

हित किया। थोड़े ही दिनों में इंडिया सोसायटी क्रान्तिकारियों का प्रमुख केन्द्र बन गई। गणेश दामोदर सावरकर के छोटे भाई श्री विनायक दामोदर सावरकर इन्हीं दिनों विद्याध्ययन के लिए लन्दन आये और इण्डिया सोसायटी के सदस्य के रूप में क्रांतिकारी हलचलों में बड़ी दिलचस्पी लेने लगे। उनकी 'सन् १८५७ का स्वतंत्रता संग्राम' नामक पुस्तक बड़ी लोकप्रिय हुई। उन्होंने भारत में अपने साथियों को क्रांतिकारी साहित्य भेजा और गुप्त रूप से शस्त्रास्त्र भेजने की भी व्यवस्था की। विनायक दामोदर सावरकर के एक साथी श्री मदनलाल धींगड़ा ने सन् १९०९ की पहली जुलाई को सर विलिमम कर्जन वाइली नामक अंग्रेज को लन्दन में गोली मार दी। सर वाइली भारतीय छात्रों पर खुफिया तरीके से बड़ी कड़ी निगरानी रखते थे। भारतीय युवकों को सरकार जिस निर्दयता से सज़ा दे रही थी यह घटना उसीके विरोध की प्रतीक थी। धींगड़ा को फांसी की सजा दी गई, जिसे उसने बहादुरी से ग्रहण किया। इसी सिलेसिले में विनायक दामोदर सावरकर भी पकड़े गए। जब वह नजरबंदी की हालत में जहाज द्वारा भारत लाये जा रहे थे तब जहाज में से कूदकर उन्होंने भागने का जो प्रयत्न किया वह बड़ा ही रोमांचकारी है। भारत में उन पर मुकदमा चला और कालेपानी की सजा हुई।

उधर अमरीका में लाला हरदयाल क्रान्तिकारी दल का संगठन कर रहे थे। केलीफोर्निया उनकी हलचलों का प्रमुख केन्द्र था। वह दो समाचार पत्र निकालते थे। एक गुरुमुखी में और दूसरा उर्दू में। इन पत्रों के द्वारा वह अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह कर देने के विचारों का प्रचार कर रहे थे। कनाडा और अमरीका स्थित भारतीयों पर उनके इन विचारों का बड़ा प्रभाव पड़ रहा था। भारत से बहुत से क्रान्तिकारी यहां आकर इस दल में सम्मिलित हुए जिससे इस दल की शक्ति बहुत बढ़ गई। प्रथम महायुद्ध के समय उन्होंने इस बात का प्रचार किया कि अंग्रेजों को भारत से निकालने के लिए हमें जर्मनी की मदद लेनी चाहिए। सन् १९१४ में अमरीकी सरकार ने उन्हें कैद कर लिया लेकिन जब वह जमानत पर रिहा हुए तो स्विटज़रलैंड भाग गए। महायुद्ध के समय उनके दल ने विदेशी

शस्त्रास्त्रों की मदद से भारत में विद्रोह खड़ा करने के काम को बहुत प्रोत्साहन दिया।

क्रान्तिकारी आन्दोलन की असफलता

इसमें कोई सन्देह नहीं कि क्रांतिकारी दल के सदस्य बड़े त्यागी, साहसी और वीर थे। उनकी देशभक्ति में थोड़ा-सा भी अविश्वास नहीं किया जा सकता। लेकिन इतने साहस और बलिदान के बाद भी वे सफलता प्राप्त नहीं कर सके। इसके कई कारण थे। सबसे बड़ा कारण यह था कि उनका देशव्यापी संगठन नहीं था। क्रांतिकारी कार्य का ठीक-ठीक संचालन करने के लिए किसी केन्द्रीय संगठन की आवश्यकता थी, जिसके आदेशों पर योजना-बद्ध कार्य होता। इसके अभाव में परिणाम यह होता कि जहां जिसके मन में जो आता वह करता था और शक्ति बंट जाती थी। दूसरी बात यह थी कि इसके सदस्य अधिकतर मध्यम श्रेणी के नीचे के तबके के लोग थे। प्रथम श्रेणी के लोग जहां इनसे डरते थे वहां किसान-मजदूर इनके काम से अनभिज्ञ थे। पढ़े-लिखे और बुद्धि-वादी लोगों को यह हिंसात्मक तरीका पसन्द नहीं था। क्रांतिकारी लोगों के हिंसात्मक कार्यों ने सरकार को भी दमन और अत्याचार के लिए खुली छूट दे दी। सरकार ने एक के बाद एक कड़े-से-कड़े कानून बनाकर दमन-चक्र चलाया और अनेक युवकों को कड़ी-कड़ी सजाएं देकर आंदोलन की कमर तोड़ने का जोर-शोर से प्रयत्न किया।

: १० :

कांग्रेस दो दलों में

कांग्रेस में गरम दल का प्रभाव

कांग्रेस के आंदोलन को प्रारम्भ हुए काफी समय हो चुका था। अतः मध्यम वर्ग के नीचे के तबके में भी राष्ट्रीय चेतना का उदय और विकास उत्तरोत्तर स्पष्ट दिखाई देने लगा था। अब जो नये-नये कांग्रेस में आ रहे थे वे सभी गरम विचारों से प्रभावित होते दिखाई देते थे। सब

यही शिकायत करते थे कि कांग्रेस के नेतृत्व की बाग्डोर सबल हाथों में आनी चाहिए ; अब समझौते की भावना से काम नहीं चल सकता। लेकिन बड़े-बड़े नेता अपना वही पुराना राग अलाप रहे थे। वे कहते थे कि धीरज रखो, अब भी सरकार के साथ सहयोग किया जा सकता है और वैधानिक आंदोलन से समस्या का हल मिल सकता है। लेकिन सरकार तो दमन में लगी थी। उसकी दमनकारी नीति लोगों में अविश्वास पैदा करती जा रही थी। धीरे-धीरे अंग्रेजों की न्यायपरायणता से लोगों का विश्वास हटने लगा। वे पूछने लगे कि विधान की सीमाओं में बंधकर काम करने का क्या परिणाम निकला ? बंग-भंग उसीके उपहार में हमें मिला है। इस सबका यह परिणाम हुआ कि कांग्रेस में एक वामपन्थी-दल की स्थापना हुई, जिसका राजनैतिक दृष्टि-कोण पूर्णतः मौलिक था। इस दल का विश्वास था कि सरकार पर दबाव डालने के लिए प्रभावशाली राजनैतिक आंदोलन किया जाना चाहिए। लोकमान्य तिलक, विपिनचन्द्र पाल तथा लाला लाजपतराय इस नये दल के प्रमुख नेता थे। बाद में स्वदेशी आंदोलन के समय श्री अरविंद घोष भी इनके साथ मिल गए। इन सबने मिलकर कांग्रेस को प्रभावशाली राजनैतिक आंदोलन के मार्ग पर लाने का प्रयत्न किया। कांग्रेस के अन्दर यद्यपि इस दल का प्रभाव अधिक नहीं था तथापि बाहर एक बहुत बड़ा जनसमूह उसके साथ था।

कांग्रेस का २१वां अधिवेशन

कांग्रेस का २१वां अधिवेशन सन् १९०५ में दिसम्बर के अन्तिम सप्ताह में बनारस में हुआ। यहां नरम और गरम दलों का मत-भेद स्पष्ट दिखाई देने लगा। इस अधिवेशन के समय इंग्लैंड से लौटे हुए कांग्रेस के प्रतिनिधियों ने अपने अनुभव बताये। यह प्रतिनिधि-मण्डल अंग्रेज-जनता के सामने भारतीय-जनता की मांगें रखने और प्रचार करने के लिए गया था। इनमें लाला लाजपतराय भी थे। उन्होंने कहा कि अंग्रेज-जनता अपनी खुदकी समस्याओं में ही इतनी उलझी हुई है कि उसे भारतीय प्रश्नों पर सोच-विचार करने की फुरसत नहीं है। अतः यदि आपको सचमुच अपनी चिंता है तो स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए अपनी शक्ति

पर भरोसा रख कर खड़ा होना पड़ेगा। गोखलेजी का प्रभाव नरम दल पर तो था ही; गरम-दल के लोग भी उनका आदर करते थे। इस अधिवेशन में प्रतिनिधियों के सामने एक टेढ़ा प्रश्न उपस्थित हुआ। जनवरी १९०६ में वेल्स के राजकुमार और राजकुमारी आनेवाले थे। गरम-दल कह रहा था कि वह उनके स्वागत का बहिष्कार करेगा। लार्ड मिंटो, जो उस समय वाइसराय थे, बड़े परेशान हुए। वह गोखलेजी से मिले, और उनसे यह आश्वासन ले लिया कि उनके स्वागत में कोई गड़बड़ नहीं होने दी जायगी। अतः नरम-दल उनके स्वागत का प्रस्ताव पास करवाना चाहता था। लेकिन बंगाल के गरम-दलीय प्रतिनिधि इसके बिल्कुल विरुद्ध थे। अन्त में गोखलेजी ने महाराष्ट्र और पंजाब के प्रतिनिधियों से कहा कि वे अपना प्रभाव बंगाली प्रतिनिधियों पर डालें। इस कदम से समस्या का हल मिला। बंगाली प्रतिनिधियों ने कहा कि वे इस प्रस्ताव के समय चले जायंगे। तब उनकी अनुपस्थिति में प्रस्ताव पास कर लिया जाय। बंग-भंग ने नरम-दल का कार्य बड़ा ही कठिन बना दिया था। अतः उसने गरम-दल के साथ समझौता करने का प्रयत्न किया। अपने भाषण में गोखलेजी ने कहा कि : "मैं कांग्रेस के बेड़े को उस समय संभाल रहा हूं जबकि उसके सामने चट्टान है और चारों ओर से तूफानी लहरें उसे थपेड़े दे रही हैं।" उन्होंने बंग-भंग की कड़ी आलोचना की और कहा : "बंग-भंग के परिणाम-स्वरूप बंगाल में जो विराट जाग्रति हुई है उसका हमारे राष्ट्रीय इतिहास में बहुत बड़ा स्थान है। हमारे इतिहास में यह पहला ही अवसर है जबकि धर्म और जाति-पांति के भेद-भाव को भूलकर बाहर से किसी की भी सहायता की परवाह न करके बंगाली अपनी स्वाभाविक वृत्ति से आगे बढ़े हैं। बंगाल के नेताओं ने अपने त्याग और तप से जनता की सेवा के आदर्श को बहुत ऊँचा उठा दिया है।" उन्होंने अपने भाषण में स्वदेशी का भी समर्थन किया और उस पर विस्तार के साथ प्रकाश डाला। इस अधिवेशन में बंग-भंग पर एक प्रस्ताव रखा गया। यह प्रस्ताव रखते हुए श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने उन सारे अत्याचारों का वर्णन किया जो सरकार ने आन्दोलन को दबाने के लिए किये थे। पं० मदनमोहन मालवीय ने एक

प्रस्ताव में बहिष्कार का समर्थन किया और बड़ा ही ओजस्वी भाषण दिया। इस अधिवेशन में यह भी निश्चय किया गया कि श्री गोखले स्वयं इंग्लैंड जांय और वहां उच्च अधिकारियों से मिलकर भारत के प्रति एक अच्छी नीति अपनाने के लिए उनपर दबाव डालें।

कांग्रेस का २२वां अधिवेशन

जैसे-जैसे अधिवेशन के दिन पास आते जा रहे थे वैसे-वैसे स्थिति विषम बनती जा रही थी। गोखलेजी इंग्लैंड से खाली हाथ लौटे। इधर भारतमन्त्री लार्ड मार्ले ने घोषणा की कि बंग-भंग एक निश्चित सत्य है। इस एक वर्ष के समय में गरम-दल और अधिक लोक-प्रिय बन गया था। अतः अधिवेशन के सभापति का प्रश्न बड़ा जटिल बन गया। गरम-दल के नेता श्री विपिनचन्द्र पाल ने लोकमान्य का नाम पेश किया। नरम-दल वाले उन्हें नहीं चाहते थे। अतः दोनों ओर से खींचातान होने लगी। आखिर इस समस्या को हल करने के लिए दादाभाई नौरोजी का नाम रखा गया। उनका असर दोनों दलों पर था, अतः वह सभापति चुन लिए गये।

अधिवेशन के समय बड़ा जोश दिखाई दे रहा था। १६००० से अधिक व्यक्ति उपस्थित थे। अब तक किसी भी अधिवेशन में इससे ज्यादा लोग इकट्ठे नहीं हुए थे। इसका कारण जहां एक ओर नरम और गरम दल की कशमकश थी, वहां स्वदेशी और बहिष्कार आंदोलन भी थे, जो इन दिनों जोर-शोर पर थे। उनके कारण भी लोगों में काफी उत्साह था। दादाभाई नौरोजी ने दोनों दलों को जोड़ने का काफी प्रयत्न किया। उन्होंने अपने भाषण में कहा : "आंदोलन करो, निरन्तर आंदोलन करो। लोकतांत्रिक ब्रिटिश जाति आंदोलन के सामने जितना सिर झुकाती है इतना और किसी बात के सामने नहीं। पर आंदोलन सब तरह लोकतांत्रिक और उपद्रव-रहित होना चाहिए।" अपने इसी भाषण में उन्होंने सबसे पहले स्वराज्य शब्द का प्रयोग किया था। लेकिन इससे उनका मतलब औपनिवेशिक स्वराज्य से ही था।

इस अधिवेशन में गरम दल अपनी बहुत-सी बातें स्वीकार करवाने में सफल हो गया, हालांकि इसके लिए उसे बड़ी कठिनाइयों का सामना

करना पड़ा था। गरम दल के चार प्रमुख प्रस्ताव थे—स्वदेशी, स्वराज्य, बहिष्कार और राष्ट्रीय शिक्षा। ये चारों प्रस्ताव बड़े महत्त्वपूर्ण थे। ये इस बात के प्रतीक थे कि कांग्रेस अब आंदोलन की दशा में अग्रसर होती जा रही थी।

सूरत कांग्रेस

पिछले कलकत्ता अधिवेशन में दादाभाई नौरोजी ने दोनों दलों की कशमकश को शान्त करने का बड़ा प्रयत्न किया था और उसमें उन्हें सफलता भी मिल गई थी लेकिन इस बार वही समस्या और भी विकट रूप धारण कर रही थी। नरम दल के नेता स्वराज्य के लिए किसी सक्रिय आन्दोलन को प्रारम्भ करना पसन्द नहीं कर रहे थे जबकि गरम दलवाले उसके लिए बड़े उत्सुक थे। गरम दल केवल विदेशी माल के बहिष्कार से ही सन्तुष्ट हो कर बैठ जाने वाला नहीं था। उसके नेता आगे बढ़-कर सरकारी नौकरियों और संस्थाओं का भी बहिष्कार प्रारम्भ करना चाहते थे। अतः दोनों के मत-भेद की खाई काफी बढ़ गई थी। सभापति के प्रश्न को ही लेकर दोनों दलों में रस्सा-कशी प्रारम्भ हो गई। अभी तक यह प्रथा चली आ रही थी कि पिछले अधिवेशन का स्वागताध्यक्ष ही प्रायः सभापति चुन लिया जाता था। पिछले अधिवेशन में स्वागताध्यक्ष थे श्री रासबिहारी घोष। उनकी सहानुभूति नरम दल वालों के साथ थी। अतः गरम दलने उनके नाम का विरोध किया। उन्होंने लाला लाजपतराय का नाम पेश किया और कहा कि यह प्रश्न चुनाव के द्वारा तय कर लिया जाय। उनका खयाल था कि लालाजी के नाम पर नरम दल वाले भी आपत्ति न करेंगे क्योंकि अभी जेल से छूट-कर आने के कारण उनकी लोक-प्रियता काफी बढ़ गई थी। लेकिन लालाजी ने इस झंझट में पड़ने से इन्कार कर दिया। अब डा० रासबिहारी घोष का नाम प्रस्तावित हुआ और समर्थन के बाद उनके सभापति बनने की घोषणा कर दी गई। इधर इस सारी कार्यवाही में गरम दल वाले 'नहीं' 'नहीं' की आवाज लगाते रहे। हो-हल्ला इतना बढ़ा कि उस दिन की कार्यवाही स्थगित करनी पड़ी। दूसरे दिन जब कार्यवाही शुरू हुई तो फिर वही हाल हुआ। लड़ाई-झगड़े की नौबत आ गई और पुलिस को आकर पंडाल

खाली करवाना पड़ा। कांग्रेस के इतिहास में यह दिन एक धब्बे के रूप में स्मरण किया जायगा। यदि कुछ विचारशीलता से काम लिया गया होता तो यह अप्रिय घटना टल सकती थी। नरम दल तो बहु-मत में था ही अतः उसके लिए सभापति के खुले चुनाव का विरोध करने की कोई आवश्यकता नहीं थी। लोकमान्य तिलक को अधिवेशन में न बोलने देकर भी उन्होंने भूल की। लेकिन दूसरी ओर बल-प्रयोग के द्वारा गरम दल का नरम दल को शक्तिहीन बनाने का प्रयत्न भी अच्छा नहीं था।

अलग अधिवेशन

अब दोनों दलों में इतना विरोध हो गया था कि उनका एक साथ बैठ सकना भी संभव नहीं था। अतः नरम दल ने अपना अलग अधिवेशन किया। कांग्रेस का विधान बनाने के लिए एक उप-समिति नियुक्त की गई। बाद में अप्रैल सन् १९०८ में इलाहाबाद में इसी सिलसिले में अधिवेशन हुआ जिसमें विधान बनानेवाली उपसमिति की रिपोर्ट मंजूर की गई। रिपोर्ट में कहा गया था कि वैधानिक तरीकों से धीरे-धीरे स्वराज्य प्राप्त करना ही कांग्रेस का लक्ष्य है। जो इस लक्ष्य तथा साधन को स्वीकार करते हैं वह ही कांग्रेस के प्रतिनिधि हो सकते हैं। परिणाम यह हुआ कि आगामी कुछ वर्षों तक कांग्रेस पर नरम दल का पूरा प्रभुत्व हो गया।

कांग्रेस का २४वां और २५वां अधिवेशन

सन् १९०८ में कांग्रेस का २४ वां अधिवेशन मद्रास में हुआ। इस बार फिर डा० रासबिहारी घोष सभापति चुने गए। उन्हें फिर से सभापति चुनने का कारण यह था कि सूरत अधिवेशन में झगड़ा हो जाने से वह सभापतित्व नहीं कर सके थे। सभापति ने अपने भाषण में सरकार की दमन-नीति की निन्दा की और साथ ही गरमदल वालों की भी आलोचना की। शासन-सुधार सम्बन्धी तथा अन्य कुछ प्रस्ताव पास हुए। २५ वां अधिवेशन लाहौर में पंडित मदनमोहन मालवीय की अध्यक्षता में हुआ। प्रतिनिधियों की संख्या काफी घट गई थी। इस बार केवल २५० प्रतिनिधि ही आये थे। मालवीयजी का भाषण बड़ा सुन्दर था। उन्होंने शासन-सुधार की बड़ी निन्दा की। मिन्टो-मार्ले सुधार इस अधिवेशन का प्रमुख प्रश्न था,

अभी-अभी इस सुधार की घोषणा हुई थी। अतः उस पर काफी विचार हुआ। सैयद हसनइमाम ने साम्प्रदायिक निर्वाचन की कड़ी निन्दा की और कहा कि यह देश के लिए बड़ा घातक सिद्ध होगा। शासन-सुधार के सम्बन्ध में चार प्रस्ताव पास किये गए।

ऊपर जिस मार्ले-मिन्टो-सुधार का जिक्र किया गया है वह इस वर्ष सन् १९०९ में पास हुआ था। इस सुधार के द्वारा कुछ सीमा तक चुनाव का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया गया था, और भारतीय धारा-सभा के सदस्यों की संख्या कुछ बढ़ा दी गई थी। उनके प्रश्न पूछने के अधिकार को विस्तृत कर दिया गया था। और उन्हें बजट के समय प्रस्ताव पेश करने का भी अधिकार दिया गया था। लेकिन इस शासन-सुधार में अनेक कमियाँ थीं। चुनाव की प्रणाली स्वीकार करने पर भी किसी धारा-सभा में चुने हुए सदस्यों का बहुमत नहीं होता था। मतदाताओं को चार भागों में बांटा गया था—एक साधारण, दूसरा जमींदार, तीसरा मुसलमान और चौथा विशेष स्वार्थ। इन मतदाताओं में भी बहुत-सा भेद-भाव रखा गया था। मुसलमानों के साथ तो बहुत ज्यादा पक्षपात किया गया था। ७०००) रुपये मालगुजारी देने वाले हिंदू को मतदान का अधिकार दिया गया था जबकि मतदान का यही अधिकार ७५०) रुपये मालगुजारी देने वाले मुसलसान को भी दिया गया था। इस प्रकार की अन्य बातें भी इस सुधार में थीं।

मार्ले-मिंटो सुधार

लार्ड कर्जन की नीति ने चारों ओर अशांति और आंदोलन उत्पन्न कर दिया था। अतः उसके परिणाम-स्वरूप चारों ओर हिंसा और उग्रता का वातावरण देखकर बहुत से अंग्रेज यह बात तीव्रता से अनुभव करने लगे थे कि लार्ड कर्जन की नीति ठीक नहीं है। यद्यपि उनमें से कोई भी यह नहीं चाहता था कि भारतीय मांगों को पूरा करना चाहिए तथापि वे यह अवश्य ही अनुभव करने लगे थे कि लोगों को इतना अधिक भड़का देनेवाली कोई बात जहां तक हो सके, नहीं करनी चाहिए। छोटी-मोटी बातों से यदि उन्हें संतुष्ट किया जा सके, शांत रखा

एक ओर शांति करने और दूसरी ओर दमन करने की नीति

जा सके तो उनको उसके लिए अवश्य प्रयत्न करना चाहिए। लार्ड मार्ले और मिंटो ऐसे व्यक्तियों में प्रमुख थे। वे चाहते थे कि धीरे-धीरे सुधार करने की नीति अपना ली जानी चाहिए ताकि अशान्ति और असन्तोष का तूफान खड़ा न हो सके। इनका स्पष्ट मत था कि अब निरंकुशता के दिन लद गए हैं। अब कांग्रेस का संगठन और बल बढ़ गया है। भले ही हम उसके सिद्धान्तों को न मानें, उसकी मांगों को पूरा न करें लेकिन हम उसकी ओर से आंखें मूंद कर बैठ नहीं सकते। हमें उसकी ओर ध्यान देना ही पड़ेगा। सरकार अब यह बात भी अनुभव कर चुकी थी कि दमन के द्वारा लोगों की भावना को दबाया नहीं जा सकता। उससे तो वह और ज्यादा उभरती है। अधिक दमन से लोग उसके आदी हो जाते हैं और उनपर उसका कोई असर नहीं होता। लार्ड मार्ले ने बार-बार इस बात पर जोर दिया कि कांग्रेस और उसके आंदोलन का मुकाबला करने के लिए हमें एक दूसरा रास्ता अपनाना पड़ेगा। उन्होंने कहा : "विचार-धारा का मुकाबला विचार-धारा से ही किया जा सकता है। अतः हमको एक विरोधी विचार-धारा सामने रखनी चाहिए।"

सरकार ने इसी नीति को ध्यान में रखते हुए १९०९ के सुधारों की घोषणा की थी। इन सुधारों के द्वारा एक ओर हिन्दू और मुसलमानों में फूट डालने का प्रयत्न था, दूसरी ओर नाममात्र के सुधारों द्वारा उच्च श्रेणी के लोगों को थोड़ा सन्तुष्ट करने का भी प्रयास था। इन सुधारों ने न कोई नई जिम्मेदारी दी न कोई अधिकार। केवल लोगों का मन खुश करने के लिए धारा-सभाओं में गैर-सरकारी सदस्यों का बहुमत कर दिया। वस्तुतः ये धारा-सभाएं वाद-विवाद के अखाड़े मात्र थे। इन सुधारों के द्वारा जो तीर छोड़ा गया था वह बहुत कुछ निशाने पर ही बैठा। नरम दल को सन्तुष्ट करने के लिए ये सुधार काफी थे। इन्होंने दोनों दलों में मत-भेद पैदाकर राष्ट्रीयता की उठती हुई दीवार में एक दरार बनाने का काम कर दिया। बेचारे गरम दल के लोग अलग पड़ गए। अब सरकार के लिए उन पर प्रहार करना आसान हो गया।

कांग्रेस का २६वां अधिवेशन सन् १९१० में सर विलियम वेडरबर्न के सभातित्व में इलाहाबाद में हुआ। सभापति ने दोनों दलों में समझौता कराने का प्रयत्न किया लेकिन उन्हें सफलता नहीं मिली। इन दिनों यह बात चलने लगी थी कि स्वायत्त शासन की संस्थाओं में भी पृथक निर्वाचन प्रारंभ किया जाय। एक प्रस्ताव के द्वारा श्री मुहम्मदअली जिन्ना ने सरकार की इस नीति को बड़ा घातक बताया। यदि श्री जिन्ना के इस समय के विचारों से आगे के विचारों को मिलाया जाय तो स्पष्ट दिखाई देता है कि सरकार के हाथों में खेलकर वह कितने ज्यादा बदल गए थे। अधिवेशन के बाद श्री वेडरबर्न ने हिन्दू-मुसलमान दोनों जातियों के प्रमुख नेताओं की एक मीटिंग बुलाई और उनमें एकता स्थापित कारने का प्रयत्न किया लेकिन सफलता नहीं मिली।

२६वां अधिवेशन

सन् १९११ में १२ दिसम्बर के दिन दिल्ली में एक दरबार हुआ। इसमें सम्राट पंचम जार्ज और सम्राज्ञी मेरी आई थी। दरबार बड़ी शान-शौकत से हुआ। सभी बड़े-बड़े राजा-महाराजा और अधिकारी उपस्थित हुए। इस अवसर पर सम्राट ने जो घोषणा की उसमें बंग-भंग की योजना रद्द कर दी और बंगाल को फिर अखण्ड कर दिया। शासन-सुधार के बाद जनता को शान्त और सन्तुष्ट करने की दिशा में सरकार का यह दूसरा कदम था। लेकिन जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है ये धीरे-धीरे किये हुए सुधार तो सरकारी नीति के अंग थे। अतः इनसे वास्तविक शांति और सद्भावना फैलाने का उद्देश्य कैसे प्राप्त किया जा सकता था।

दिल्ली दरबार और बंगाल की एकता

२७वां अधिवेशन श्री विशननारायण दर के सभापतित्व में सन् १९११ में कलकत्ता में हुआ था। श्री दर ने अपने भाषण में कहा : "हमें थोड़े से सुधारों से सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिए। इसी तरह धीरे-धीरे चलने की नीति भी हमें छोड़ देनी चाहिए। यदि यही बात चलती रही तो हम जनता को कायर बना देगें। हमें पूरी शक्ति से देश के काम में जुट जाना चाहिए।"

२७वां अधिवेशन

दमन का प्रतिवाद और शासन-सुधार की निंदा जैसे प्रस्ताव पहले की तरह इस बार भी पास हुए।

२८वां अधिवेशन

२८वां अधिवेशन श्री आर० एन० मुधोलकर की अध्यक्षता में बांकीपुर में हुआ। स्वागताध्यक्ष श्री मजरुलहक ने कहा कि बलकान युद्ध में ब्रिटिश साम्राज्यवाद की नीति से भारतीय मुसलमानों में बड़ा क्षोभ है। श्री मजरुलहक ने अपने भाषण में इस नीति की निंदा की। इससे विचारशील मुसलमानों के सामने वस्तुस्थिति प्रकट हुई और उन्हें ब्रिटिश-नीति के खोखलेपन को देखने का मौका मिला। इस अधिवेशन में दक्षिण अफ्रीका के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण प्रस्ताव पास हुआ जो उल्लेखनीय है। वहां भारतीय लोगों पर बड़े अत्याचार हो रहे थे। माननीय गोखलेजी अभी दक्षिण अफ्रीका से लौटे ही थे, अतः उन्होंने वहां का आंखों देखा हाल बताया। वहां के गोरों की भेद-भाव भरी नीति की निंदा की गई।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूरत कांग्रेस के बाद कांग्रेस नरम-दल के हाथों में चली गई। नरमदल में प्रायः सभी अच्छी स्थिति के व्यक्ति थे। कोई वकील था, कोई डाक्टर और कोई शिक्षा-शास्त्री। उनका जनता से सीधा सम्पर्क नहीं था। अतः उनके द्वारा कोई आंदोलन चलाने की आशा नहीं की जा सकती थी। गरम दल वाले कांग्रेस से बाहर थे। उन्हें अच्छा नेतृत्व प्राप्त नहीं हो रहा था क्योंकि अब उपयुक्त अवसर देखकर सरकार गरमदलवालों का दमन करने में लगी हुई थी। तिलक जेल में थे और दूसरे गरम दलीय नेताओं का भी यही हाल था। सन् १९१० के अन्त से, जब कि लार्ड हार्डिग्ज वाइसराय बनकर आये थे, भारत के राजनीतिक जीवन में शिथिलता आती हुई दिखाई देती है। इस समय महायुद्ध दिखाई दे रहा था। अतः वह ऐसी नीति अपनाना चाहते थे जिससे कांग्रेस की सहायता और सहयोग प्राप्त कर सकें। सन् १९११ का दिल्ली-दरबार और उसमें बंग-भंग को रद्द करना उनकी इसी नीति के परिणाम थे।

: ११ :

महायुद्ध के दिनों में

सन् १६१४ में युरोप में महायुद्ध छिड़ गया । बात यह हुई कि इस वर्ष के जून मास में आस्ट्रिया के राजकुमार की हत्या कर दी गई। हत्या करने वाला सर्विया-वासी था। अतः आस्ट्रिया ने सर्विया पर हमला कर दिया। जर्मनी ने आस्ट्रिया का पक्ष लिया और वह भी इस आक्रमण में सम्मिलित हो गया । फ्रांस, रूस और इंग्लैंड को जर्मनी का यह कार्य चुनौती लगा और उस चुनौती को स्वीकार करके वह भी लड़ाई में सम्मिलित हो गए। अमरीका भी कुछ दिन पीछे लड़ाई में शामिल हो गया । चार वर्ष तक यूरोप में महानाश का ताण्डव होता रहा। लेकिन यह सब तो ऊपरी कारण था। वास्तविक बात यह थी कि भारत के उद्योग-धन्धों को नष्ट करके ब्रिटेन ने जो औद्योगिक क्रान्ति की थी उसका असर समूचे यूरोप पर हुआ था। जगह-जगह बड़े-बड़े कारखाने खुलने लगे थे और एक बड़े परिमाण में उपभोक्ता-वस्तुएं और युद्ध-सामग्री तैयार होने लगी थी। इंग्लैंड के पास तो माल बेचने के लिए भारत, आस्ट्रेलिया, अफ्रीका आदि बहुत से उपनिवेश थे और जर्मनी के पास कोई उपनिवेश नहीं था। जर्मनी औद्योगिक क्षेत्र में जरा देर से आया था। लेकिन थोड़े से ही समय में उसने काफी प्रगति कर ली थी। अब वह ब्रिटेन से भी आगे निकलना चाहता था, पर उपनिवेश की कमी उसके मार्ग में बड़ी बाधक हो रही थी। इस कमी को पूरा करने के लिए वह प्रयत्न करता रहा। परिणामस्वरूप आपस में तनातनी होने लगी और अंत में उसने इस महा-युद्ध का रूप ले लिया ।

पहला महायुद्ध

भारत तो अंग्रेजी साम्राज्य के अंतर्गत था ही, अतः उसे भी लड़ाई में शामिल होना पड़ा । ब्रिटिश प्रधान-मंत्री श्री एस्क्विथ ने भारत से लड़ाई में सहायता देने की अपील की और घोषणा की कि अब भविष्य में भारत के प्रश्नों को एक नई दृष्टि से देखा जायगा । उन्होंने यह भी कहा कि भारत

को उसकी इस राजभक्ति के पुरस्कार में स्वशासन का अधिकार दिया जायगा। इसके कुछ समय बाद लायड जार्ज ने कहा कि अयनवृत्त के प्रदेशों को भी आत्मनिर्णय का अधिकार दिया जायगा। अमरीका के युद्ध में सम्मिलित हो जाने पर प्रेसीडेन्ट विल्सन ने कहा, "यह लड़ाई दुनिया को इस योग्य बना देगी कि उसमें स्वतन्त्र लोग अच्छी तरह रह सकें।" यह भी कहा गया कि यदि इस युद्ध में जर्मनी की विजय हुई तो वह प्रजातन्त्र पर पशुबल की विजय होगी। इन सारे वादों और सब्जबागों का भारतीय नेताओं पर बड़ा असर हुआ और उन्होंने कठिनाई के इस समय में अंग्रेजों की मदद करना अपना परम कर्तव्य समझा। श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, गांधीजी तथा अन्य नेता इस काम में पूरी सहायता करने लगे। भारत के लगभग ३ लाख सैनिक फ्रान्स और मिश्र में लड़ने गये ओर करोड़ों रुपया भी दिया गया। भारतीय सैनिकों ने अपने प्राणों की बाजी लगाकर जर्मनी के बढ़ते हुए प्रवाह को दीवार की तरह अड़कर रोक दिया। उनकी वीरता की सबने प्रशंसा की।

सरकार द्वारा दिये गए लम्बे-चौड़े आश्वासनों तथा भारतीयों द्वारा दी गई मदद ने जनता में काफी राजनैतिक चेतना भर दी। भारतीय नागरिक इस बात में बड़ा गौरव अनुभव करने लगा कि उनके देशवासियों की वीरता ने यूरोप की लड़ाई जीतने में बहुत बड़ा भाग लिया। भारत में नरम दल का जो आन्दोलन चल रहा था उसको इस लड़ाई से बड़ा बल मिला। वैधानिकता में लोगों का विश्वास बैठने लगा और उन्होंने भारत के स्वराज्य की रूपरेखा तैयार करके उसे अंग्रेज सरकार के सामने रखा। लड़ाई के इस संकट ने नरम और गरम दल तथा हिन्दू-मुसलमानों के मत-भेदों की खाई को भी कम करने में बड़ी मदद दी। उन्होंने इस संकट के समय एक दूसरे के निकट आकर काम करने का निश्चय किया। इस महायुद्ध ने क्रांतिकारियों की शिथिलता दूर की और उनमें भी चेतना का संचार किया।

सन् १९१४ के जून मास में लोकमान्य छः वर्ष की सजा पूरी करके जेल से छूटे। उनके मुक्त होने से देश में फिर नवजीवन का संचार हो गया। उन्होंने लड़ाई के सम्बन्ध में एक वक्तव्य दिया जिसमें कहा कि

भारतवासियों को लड़ाई में सरकार की मदद करनी चाहिए। साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि यदि हमें सरकार के अन्तर्गत होमरूल मिल जाय तो हम सन्तुष्ट हो जायंगे। उन्होंने नरम और गरम दलों में समझौता कराने का भी प्रयत्न किया लेकिन सफलता नहीं मिली।

लोकमान्य जेल से छूटे

इसी वर्ष मद्रास में श्री भूपेन्द्रनाथ बसु की अध्यक्षता में कांग्रेस का तीसवां अधिवेशन हुआ। सभापति ने अपने भाषण में इस बात पर सन्तोष प्रकट किया कि स्वतन्त्रता और न्याय के लिए भारत भी ब्रिटेन के साथ लड़ रहा है। उन्होंने कहा कि अब वह समय आगया है जब सरकार को शासन में मौलिक सुधार करने चाहिएं। अब तक प्रायः सभी महत्वपूर्ण पदों पर अंग्रेज पदाधिकारी हैं, यदि अंग्रेजी राज्य इसी तरह भारत की छाती पर बोझ बना बैठा रहे तो वह मानवता के लिए कलंक होगा। इस अधिवेशन में श्रीमती एनी बीसेन्ट भी आई थीं। वह थियॉसाफिकल सोसायटी की प्रसिद्ध कार्यकर्तृ थीं, अपनी वक्तृत्व-कला, संगठन शक्ति और आकर्षक व्यक्तित्व से उन्होंने जल्दी ही लोगों को प्रभावित कर लिया।

कांग्रेस का ३० और ३१ वां अधिवेशन

कांग्रेस का ३१ वां अधिवेशन श्री सत्येन्द्रप्रसन्नसिन्हा की अध्यक्षता में बम्बई में हुआ। ये वही लार्ड सिन्हा थे जो बाद में बिहार-उड़ीसा के गवर्नर बनाये गए थे। सभापति के भाषण और प्रस्तावों में कोई नवीनता या विशेषता नहीं थी। इस अधिवेशन के समय ही बम्बई में मुस्लिम लीग का अधिवेशन भी हो रहा था। अतः दोनों संस्थाओं के सदस्यों के लिए एक दूसरे के निकट आकर परस्पर समझने का यह एक अच्छा अवसर था। महायुद्ध ने बहुत-सी कटुता कम कर दी थी, अतः कांग्रेस के नेता लीग के अधिवेशन में गये और वहां उनका अच्छा स्वागत हुआ। इस प्रकार दोनों संस्थाओं के बीच मेल-जोल का रास्ता खुलने लगा। इस अधिवेशन में दूसरी महत्वपूर्ण बात हुई कांग्रेस के विधान में कुछ परिवर्तन। श्रीमती एनी बीसेन्ट का यह संशोधन पास हो गया कि जो संस्था कांग्रेस के

लक्ष्य को मानती है और जो दो वर्ष या इससे अधिक पुरानी है, कांग्रेस के अधिवेशन में अपने प्रतिनिधि भेज सकती है । इस परिवर्तन ने गरम दल के लिए फिर कांग्रेस में आने का द्वार खोल दिया। इस संशोधन ने सन् १६०७ से चले आते हुए दोनों दलों के मतभेद समाप्त कर दिये । यह एक बहुत अच्छा कदम था ।

श्रीमती एनी बीसेन्ट राजनीति में

इस समय श्रीमती एनी बीसेन्ट का प्रभाव राजनैनिक क्षेत्रों में बढ़ता जा रहा था । अपनी सेवा से उन्होंने भारतवासियों के दिलों में अच्छा स्थान बना लिया था। इधर भारतीय सेनाएं महत्वपूर्ण सफलताएं प्राप्त करती जा रही थीं। उन्होंने कड़ाके की सर्दी में फ्लेण्डर्स और फ्रान्स के मैदान में शत्रुओं का मुकाबला बड़ी वीरता से किया और अपनी बहादुरी की धाक यूरोप पर बैठा दी। श्रीमती एनी बीसेन्ट बड़ी विदुषी महिला थीं । युद्ध के बाद पुरस्कार रूपमें भारत को शासन-सुधार देने की जो घोषणाएं सरकार की ओर से समय-समय पर हुईं, उनकी मजाक उड़ाते हुए श्रीमती एनी बीसेन्ट ने कहा : "अब भारत साम्राज्य की शिशुशाला में एक बच्चे की तरह रहने के लिए तैयार नहीं है । वह स्वतन्त्रता चाहता है"। उन्होंने कहा : "भारत की राजभक्ति के लिए पुरस्कार देने की बात कही जा रही है लेकिन भारत अपने पुत्रों के रक्त और पुत्रियों के गर्व-पूर्ण आंसुओं के साथ कोई सौदा या मोल-तोल करना नहीं चाहता कि उसे इसके बदले में इतनी स्वतन्त्रता या इतने अधिकार मिलें। वह तो एक राष्ट्र की हैसियत से न्याय पाने के उस अधिकार की मांग करता है जो साम्राज्य के अन्तर्गत सबको प्राप्त है। युद्ध के पहले भी भारत ने इसी की मांग की थी, युद्ध के दिनों में वह इसी की मांग कर रहा है और युद्ध के बाद भी उसी की मांग करेगा। लेकिन पुरस्कार के रूप में नहीं वह तो उसे अधिकार रूप में मांग रहा है।"

श्रीमती एनी बीसेन्ट ने होमरूल का आन्दोलन शुरू किया । इस आन्दोलन को नरम और गरम दोनों दलों का सहयोग प्राप्त हो गया। बात यह थी कि अभी-अभी श्री गोखले और फिरोजशाह मेहता का देहान्त हुआ था। ये दोनों नरम दल के प्रभावशाली नेता थे। उनके निधन

से नरम दल कमजोर पड़ गया। दूसरी ओर गरम दल अन्धेरे में भटक रहा था। उनमें से कोई क्रांतकारियों के साथ मिलने की बात सोच रहा था, कोई नरम दल के साथ मिलना चाहता था और कोई इस विचार में था कि अब क्या किया जाय। श्रीमती एनी बीसेन्ट का होमरूल आन्दोलन दोनों को पास ले आया। उसने फिर राजनैतिक जीवन में एक नई चेतना का संचार कर दिया।

श्रीमती एनी बीसेन्ट का दृष्टिकोण

श्रीमती एनी बीसेन्ट ने देश की राजनैतिक स्थिति का अच्छी तरह अध्ययन किया था। वह जानती थी कि देश में आज ठीक नेतृत्व का अभाव है। नरम दल जनता का विश्वास खो चुका है और गरम दल क्रान्तिकारियों से मिलने की बात सोच रहा है। अतः यह बात न भारत के लिए हितकर थी न ब्रिटेन के लिए। एक अंग्रेज होने के कारण उनकी दिलचस्पी ब्रिटेन में भी थी। अतः उन्होंने विधान की सीमाओं में आन्दोलन प्रारंभ किया और यह प्रयत्न किया कि गरम दल कहीं क्रान्तिकारियों के साथ न मिल जाय। उन्होंने कहा कि भारत ब्रिटेन को बिना शर्त कोई मदद नहीं कर सकता। उसकी मदद के बदले में उसे स्वशासन मिलना ही चाहिए। लाला लाजपतराय और श्री जिन्ना ने भी उनके इन विचारों का समर्थन किया। उन्होंने सब लोगों का विश्वास प्राप्त करके आन्दोलन प्रारम्भ किया और 'कामन वील' तथा 'न्यू इंडिया' नामक पत्रों के द्वारा इस आन्दोलन का प्रचार प्रारंभ कर दिया। उन्होंने लोगों को कहा कि वह जग जायं। भारत का अतीत बड़ा ही उज्ज्वल रहा है लेकिन परतन्त्रता के बन्धन ने उसकी सारी प्रगति को रोक दिया है। अतः यदि उसे प्रगति करना है तो इस बन्धन को तोड़ना ही होगा। उनके भाषणों का सार यही था कि स्वतंत्र भारत ही साम्राज्य के हितों की रक्षा कर सकता है। क्योंकि जबतक भारतीय नागरिकों के साथ समानता का व्यवहार नहीं किया जाता तबतक उनमें साम्राज्य के प्रति प्रेम पैदा नहीं हो सकता। वह अपने स्वातंत्र्य-प्रेम और उसे प्राप्त करने के उत्साह से प्रेरित होकर ही ब्रिटेन के लिए लड़ सकते हैं। उन्होंने कहा कि : "ब्रिटेन का भाग्य भारत के भाग्य के साथ

जुड़ा हुआ है। अतः इसी में बुद्धिमानी है कि भारत को स्वराज्य देकर संतुष्ट कर दिया जाय।"

लखनऊ कांग्रेस

कांग्रेस का ३२वाँ अधिवेशन श्री अम्बिकाचरण मजूमदार की अध्यक्षता में लखनऊ में हुआ। कांग्रेस का यह अधिवेशन अपनी अनेक विशेषताओं के कारण प्रसिद्ध है। सबसे बड़ी महत्वपूर्ण बात यह थी कि सन् १९०७ में सूरत में जो दो दल अलग-अलग हो गए थे वे इस अधिवेशन में फिर एक हो गए। इस बार मंचपर श्री रासबिहारी घोष और सुरेन्द्रनाथ बनर्जी जैसे नरम दल के नेताओं के साथ लोकमान्य तिलक और उनके साथी बैठे हुए थे। इतना ही नहीं, श्रीमती एनीबीसेंट, महात्मा गांधी और कायदे-आजम जिन्ना भी उपस्थित थे। यह तीनों उन बड़े-बड़े नेताओं में से थे जो इस समय भारतीय राजनीति के आकाश में उदय हो रहे थे। प्रतिनिधियों की संख्या भी बढ़ गई थी। इस बार २३०१ प्रतिनिधि आये थे, और पहले की शिथिलता उत्साह में बदल गई थी। अधिवेशन की कार्यवाही चार दिन तक होती रही। बहुत से महत्वपूर्ण प्रस्ताव पास हुए, जिनमें नजरबन्दी कानून, प्रेस एक्ट, कुली-प्रथा, उपनिवेशों के भारतीय, स्वदेशी आंदोलन आदि प्रमुख थे। तीसरी महत्वपूर्ण बात थी कांग्रेस और लीग द्वारा एक सम्मिलित योजना तैयार करना। इस योजना के बारे में मुस्लिम राजनीति नामक आगामी अध्याय में विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला गया है।

होमरूल आंदोलन

इस समय श्रीमती एनीबीसेंट राजनीति के क्षेत्र में पहली कतार में आ गई थीं। उन्होंने होमरूल की आवाज देश के कोने-कोने में पहुंचा दी। उनके भाषणों और लेखों ने आंदोलन को जबरदस्त गति प्रदान की। महायुद्ध के कारण देश में जो आर्थिक कठिनाई पैदा हो गई थी उसने भी आंदोलन को बढ़ाने में योग दिया। इसी समय इस्लिंगटन कमीशन की रिपोर्ट प्रकाशित हुई जिसके अनुसार सिविल सर्विस की उम्र घटा कर १९ वर्ष करने का प्रस्ताव किया गया था। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह प्रस्ताव बड़ा प्रतिगामी था। इससे पढ़े-लिखे लोगों में असन्तोष फैला। श्रीमती एनी-

बीसेंट धुआंधार प्रचार कर रही थीं। वह सारे देश का दौरा कर रही थीं और लोकमान्य तिलक ने भी महाराष्ट्र में इसी प्रकार का एक संगठन बना कर प्रचार-कार्य प्रारम्भ कर दिया था। जहाँ-जहाँ थियॉसाफीकल सोसायटी की शाखाएं थीं वहाँ-वहाँ होमरूल लीग की शाखाएं स्थापित हो गईं और विद्यार्थी, स्त्रियाँ तथा धार्मिक वृत्ति के लोग आन्दोलन में सम्मिलित होकर उसे मजबूत बनाने लगे। कई स्थानों पर तो ऐसा प्रतीत होने लगा कि यह आन्दोलन धर्म के साथ एक रूप हो रहा है। मन्दिरों में होमरूल के लिए प्रार्थना होने लगी और साधु-संन्यासी तक उसका प्रचार करने लगे। लेकिन इससे भी अधिक गति उसे उस समय मिली जब श्रीमती एनी-बीसेंट को मद्रास में नज़रबन्द कर दिया गया। अब उनको मुक्त कराने के लिए जबरदस्त आन्दोलन प्रारम्भ हो गया। इसी समय लोगों के दिमाग में उस सविनय अवज्ञा आन्दोलन की बात भी घूमने लगी जिसके कारण गांधीजी को दक्षिण अफ्रीका में बड़ी सफलता मिली थी। अन्त में श्रीमती बीसेंट छोड़ दी गईं।

बाद के वर्षों में होमरूल आन्दोलन बड़ा शिथिल होता गया। यहां तक कि उसमें जनता को छूने की शक्ति नहीं रही। इसमें कोई शक नहीं कि उन्होंने बहुत काम किया। उन्होंने पहली बार कहा कि कांग्रेस का अध्यक्ष साल भर के लिए होता है, उसे साल भर काम करना चाहिए। वह साल भर तक सारे देश का दौरा करती रहीं लेकिन आगामी वर्षों में वह समय के साथ न चल सकीं। जितनी शीघ्रता से उनका प्रभाव कांग्रेस पर पड़ा था उतना ही जल्दी वह क्षीण भी होने लगा।

अगस्त घोषणा

होमरूल आंदोलन, क्रान्तिकारी हलचलें तथा महायुद्ध की गति-विधि ने सम्राट की सरकार को यह सोचने के लिए विवश कर दिया कि भारत को इस स्थिति में अधिक दिनों तक नहीं रखा जा सकता। उन्हें भारत के प्रति अपनी नीति बदलनी पड़ेगी। भारत-मंत्री मिस्टर मान्टेग्यू ने २० अगस्त सन् १९१७ को एक घोषणा की जिसमें कहा गया था कि "ब्रिटिश नीति का लक्ष्य है शासन के प्रत्येक विभाग में भारतीय नागरिकों का सहयोग प्राप्त करना तथा उत्तरदायी

शासन मूलक ऐसी संस्थाओं का विकास करना जिनसे ब्रिटिश साम्राज्य के अंतर्गत भारत में जिम्मेदार सरकार का विकास हो।" उन्होंने इस घोषणा में यह बात स्पष्ट रूप से कह दी कि निकट-भविष्य में भारत को स्वशासन देने का उनका कोई विचार नहीं है लेकिन वह इस दिशा में आगे बढ़ने का अवश्य प्रयत्न करेंगे। इस घोषणा के बाद ही उन्होंने यह भी कहा कि वह शीघ्र ही भारत आयंगे और भारतीय नेताओं से बातचीत करेंगे। नवम्बर १६१७ में वह भारत आये। लोकमान्य तिलक और श्रीमती एनी बीसेंट भी उनसे मिलने दिल्ली गये। उन्होंने बहुत से प्रतिनिधि-मण्डलों से बातचीत की और भारत की स्थिति का अध्ययन किया।

कलकत्ता अधिवेशन

कांग्रेस का ३३ वां अधिवेशन श्रीमती एनी बीसेन्ट की अध्यक्षता में कलकत्ता में हुआ। इस बार लगभग पांच हजार प्रतिनिधि आये थे। अधिवेशन में भारत-मंत्री की घोषणा का स्वागत किया गया और यह कहा गया कि भारत को शासन की पूरी जिम्मेदारी देने की अवधि निश्चित कर दी जानी चाहिए। इस बात पर भी जोर दिया गया कि सरकार को इस घोषणा के अनुसार जो पहला कदम उठाना है उसके रूप में कांग्रेस और लीग द्वारा बनाई हुई योजना को कार्यान्वित करना चाहिए। इस अधिवेशन में झण्डे का प्रश्न उठा और होमरूल लीग के तिरंगे झण्डे की जांच करने के लिए एक कमेटी बिठाई गई। बाद में होमरूल लीग का तिरंगा झंडा ही कांग्रेस का झंडा मान लिया गया। और समयांतर उसमें चर्खा और जोड़ दिया गया।

नेशनल लिबरल लीग

इस अधिवेशन के ठीक बाद नरम दल वाले कांग्रेस से अलग हो गए। दुख की बात है कि यह कदम उन्होंने भारत मंत्री मि० माण्टेग्यू के भड़काने पर उठाया था। अब नरम दल वालों ने अपनी एक अलग संस्था बनाई जिसका नाम 'नेशनल लिबरल लीग' रखा गया। श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी इसके नेता थे। उन्हीं के सभापतित्व में इस संस्था का अधिवेशन हुआ। अब समय इतना आगे बढ़ चुका था कि नरम दली नेता बहुत पिछड़ते जा रहे थे। वह समय से कदम मिलाकर नहीं चल पा रहे थे। कांग्रेस अब एक संग्रामकारी संस्था

बनती जा रही थी। लेकिन नरम दल वाले अब भी राजभक्ति की बातें करते थे। अब भी उनका यह विश्वास था कि डेपूटेशनों, भाषणों और विधानवाद से वे समस्या का हल कर लेंगे। अपने प्रथम अधिवेशन में ही उन्होंने अगस्त घोषणा की बड़ी प्रशंसा की और भारत-मन्त्री मि० माण्टेग्यू की भी बहुत तारीफ की।

दिल्ली अधिवेशन

कांग्रेस का ३४वां अधिवेशन पं. मदनमोहन मालवीय के सभापतित्व में दिल्ली में सन् १९१८ में हुआ। अब लड़ाई समाप्त हो चुकी थी। भारत ने पूरी तरह धन-जन से मदद की थी, अतः अब उसकी यह अपेक्षा बलवती हो गई थी कि सरकार शीघ्र ही अपने उन वादों को पूरा करे जो उसने युद्ध-काल में दिये थे। वह चाहता था कि उसे भी आत्म-निर्णय का अधिकार मिले। इस बार काफी प्रतिनिधि आये थे। उनकी संख्या ४८६५ हो गई थी। राजभक्ति का प्रस्ताव तो पास हुआ ही सरकार को युद्ध में विजयी होने के लिए भी बधाई दी गई। सरकार से आत्म-निर्णय के अधिकार की भी मांग की गई। इस अधिवेशन में यह इच्छा भी प्रकट की गई कि शान्ति-सम्मेलन में भारत को भी प्रतिनिधित्व दिया जाय। उसके लिए लोकमान्य तिलक, महात्मा गांधी और श्री हसन इमाम को चुना गया।

युद्धकाल में क्रान्तिकारी आन्दोलन

युद्ध कालमें क्रान्तिकारी आन्दोलन काफी क्रियाशील रहा। टर्की ब्रिटेन के विरुद्ध जर्मनी की ओर से लड़ रहा था और मुसलमानों की टर्की के प्रति पूरी सहानुभूति थी। अतः मुसलमान इन दिनों अंग्रेजों से असन्तुष्ट थे और वह सरकार-विरोधी कार्यों में भाग ले रहे थे। छोटे-छोटे षड्यन्त्रों और डाकों की घटनाएं तो बहुत घटीं लेकिन इस समय कुछ बड़े-बड़े क्रान्तिकारी कार्य भी हुए। इस काल का रेशमी चिट्ठियों का षड्यन्त्र प्रसिद्ध है। क्रान्तिकारी लोग देश के बाहर भी पहुंच गए थे और अब वह वहां इस कार्य के लिए दूसरे देशों से सहायता लेने का प्रयत्न कर रहे थे। इन लोगों में लाला हरदयाल, चम्पाकरण पिल्ले, राजा महेन्द्रप्रताप, अबेदुल्ला, बरकतुल्ला आदि प्रमुख थे। श्री आबेदुल्ला, जो पहले सिक्ख थे और धर्म

परिवर्तन करके मुसलमान बने थे, अपने साथियों के साथ अफगानिस्तान पहुंचे और वहां ब्रिटिश सरकार को उलट देने का प्रयत्न करने लगे। उन्होंने वहां स्वतन्त्र भारत की एक अस्थायी सरकार भी बनाई । राजा महेन्द्र-प्रताप प्रेसिडेन्ट, बरकतुल्ला, प्रधान-मन्त्री और आबेदुल्ला उसके मन्त्री बने। इस सरकार ने रूसी तुर्किस्तान और रूस के जार को पत्र लिखे कि वह हालैण्ड के साथ अपनी मित्रता तोड़ दें। यह चिट्ठियाँ पीले रेशम पर बहुत साफ तरीके से लिखी गईं । भारत में ऐसी चिट्ठियाँ आई थीं, जिनमें अंग्रेजों के विरुद्ध जिहाद करने के लिए कहा गया था लेकिन यह षड्यन्त्र कुछ विशेष सफलता प्राप्त नहीं कर सका।

अमरीका और यूरोप में जो कुछ हो रहा था उसपर पिछले क्रान्तिकारी आन्दोलन वाले अध्याय में लिखा जा चुका है। चम्पाकरण पिल्ले ने जर्मनी पहुंच कर वहां इंडियन नेशनल पार्टी की स्थापना की । उन्होंने जर्मनी द्वारा गिरफ्तार भारतीय युद्ध-बन्दियों को ब्रिटेन विरोधी बनाने के लिए काफी प्रचार किया। बाहर से, खास कर जर्मनी से शस्त्रास्त्र मंगाकर भारत में सशस्त्र विद्रोह करने का प्रयत्न तो इन दिनों खूब होता रहा। लेकिन सेना का पूरा सहयोग न मिलने से यह प्रयत्न सफल नहीं हुआ।

: १२ :

मुस्लिम राजनीति

मुसलमानों की दुरावस्था

अभी कुछ वर्ष पहले तक मुसलमान भारत के सर्वेसर्वा थे, लेकिन पिछले कुछ वर्षों में उनकी स्थिति बड़ी तेजी से बदली। जिस देश में पहले वे विजेता और शासक के रूप में रह रहे थे, वहाँ उन्हें अब विजित और शासित के रूप में रहने के लिए विवश होना पड़ रहा था । धीरे-धीरे सारे उच्च-पद एवं मानप्रतिष्ठा उनसे छिनते गए, यहाँ तक कि अब उन्हें अपने निर्वाह के लिए भी दूसरों का मुँह ताकना पड़ रहा था। मुसलमान अनुभव करने लगे कि यह सब अंग्रेजों के कारण है। अतः उनके मन में अंग्रेज-विरोधी भावना दृढ़ होने लगी। इधर सन् १८३३ में फारसी का स्थान अंग्रेजी ने

ले लिया। अब तो मुसलमानों को और भी गहरा आघात लगा। वे इस समय असंगठित और कमजोर अवश्य थे, लेकिन अपने उज्ज्वल भूत को कैसे भूल सकते थे? सर विलियम हण्टर ने अपनी किताब में लिखा था : "आज से १००-७५ वर्ष पूर्व किसी खानदानी मुसलमान के लिए गरीब बन जाना असंभव था। लेकिन आज तो उसके लिए धनवान बना रहना उतना ही कठिन हो गया है।" अतः स्वभावतः ही अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार से उनमें क्षोभ बढ़ने लगा और जब वह उनकी अपनी संस्कृति और परंपरा के प्रतिकूल सिद्ध होने लगी तो उनमें जबरदस्त बैचनी पैदा हो गई। सन् १८५७ में जो विद्रोह हुआ उसमें मुसलमानों ने भी फिर से अपनी खोई हुई सत्ता को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न किया लेकिन भाग्य ने उनका साथ नहीं दिया। विद्रोह दबा दिया गया। अब अंग्रेजों ने मुसलमानों के साथ कड़ाई का व्यवहार शुरू किया। उन्होंने मुग़ल बादशाह की उपाधि खत्म कर दी, शाही खान्दान मिटा दिये और अवध तथा दिल्ली में मुसलमानों का जितना प्रभुत्व बचा था उसे भी समाप्त कर दिया। अब तो बेचारे मुल्लां और मौलवियों को भी विवश होकर अंग्रेजी सीखनी पड़ी। समूचे देश में मुस्लिम सभ्यता का पतन दिखाई दे रहा था। यदि केवल इतना ही होता तो भी मुसलमान चुप रहते लेकिन इससे भी बड़ी बात हुई। अंग्रेजी शिक्षा से दूर रहने के कारण मुसलमान बड़े-बड़े पदों से वंचित रहने लगे। उधर बङ्गाली, पंजाबी, महाराष्ट्री और मद्रासी हिन्दुओं ने इस दिशा में बड़ी प्रगति की। अंग्रेजी सीखकर वे बड़े-बड़े पदों पर पहुंचने लगे। मुसलमानों के असन्तोष को बढ़ाने में इन सब बातों ने बड़ा काम किया।

वहाबी आन्दोलन और सरकार की नई नीति

मुसलमानों का यह असन्तोष सबसे पहले वहाबी आंदोलन के रूप में व्यक्त हुआ। गदर के बाद ही यह आंदोलन यहां के मुल्लां-मौलवियों ने शुरू किया था। ब्रिटिश हुकूमत से विद्रोह करना ही उनका उद्देश्य था। यद्यपि अंग्रेजों ने इसे निर्दयता पूर्वक दबा दिया तथापि इसने अंग्रेजों के मन में यह बात पूरी तरह बैठा दी कि मुसलमान राजभक्त नहीं हैं। उनके

ऊपर विश्वास नहीं किया जा सकता। इसी धारणा के फलस्वरूप सरकार ने जातिगत भेद-भाव के आधार पर फौज का पुनर्गठन किया और इस बात का हमेशा खयाल रखा कि फौज में विभिन्न जातियों का सन्तुलन रखा जाय ताकि यदि किसी समय अंग्रेजी हुकूमत के खिलाफ कोई जाति-विशेष विद्रोह करे तो दूसरी जाति की फौज द्वारा उसका दमन किया जा सके।

सर सैयद अहमदखाँ

सर सैयद अहमदखाँ का जन्म सन् १८१७ में हुआ था। थोड़ी-बहुत शिक्षा प्राप्त करके सन् १८३७ में वह ईस्ट इंडिया कम्पनी में नौकर हो गए। सन् १८५७ के विद्रोह के समय वह बिजनौर में सदर अमीन थे। उन्होंने बड़ी राजभक्ति का परिचय दिया और विद्रोह का दमन करने में अंग्रेजों का बहुत साथ दिया। राजभक्ति के साथ उन्होंने अपनी विद्वत्ता की भी बड़ी अच्छी छाप अंग्रेजों पर डाली। विद्रोह के बाद जब अंग्रेजों का यह विचार दृढ़ होने लगा कि विद्रोहियों में मुसलमान ही प्रमुख थे तो उनकी धारणा को निर्मूल सिद्ध करने के लिए उन्होंने प्रयत्न किया। इतना ही नहीं मुसलमानों में जाग्रति लाने तथा अंग्रेजों के साथ उनके मित्रतापूर्ण सम्बन्ध कायम करने की दिशा में भी उन्होंने प्रयत्न किये। मुसलमानों में नव-जीवन का संचार करने के लिए उन्होंने सामाजिक सुधार तथा अंग्रेजी शिक्षा का नारा बुलन्द किया। उन्होंने एक समाचार-पत्र भी निकला जिसका नाम था: 'भारत के राजभक्त मुसलमान'। इसके द्वारा मुसलमानों में राजभक्ति भरने का उन्होंने काफी प्रयत्न किया। मुसलमानों और ईसाइयों के पारस्परिक सम्बन्ध ठीक करने के लिए उन्होंने एक पर्चा छपवाया जिसमें कहा गया था कि इस्लाम के धर्म-ग्रन्थों में ईसाइयों और यहूदियों के साथ मिलने-जुलने और खाने-पीने की स्वतन्त्रता दे रखी है। इसी उद्देश्य से उन्होंने बाइबिल की एक टीका भी लिखी थी।

अलीगढ़ आन्दोलन

सन् १८७७ में उन्होंने अलीगढ़ में एक कालेज की स्थापना की। इस कालेज की स्थापना उन्होंने इसी उद्देश्य से की कि पाश्चात्य विज्ञान और साहित्य के साथ इस्लामी संस्कृति और शिक्षा का समन्वय किया जा सके। यही कालेज

आगे चलकर अलीगढ़ मुस्लिम यूनीवर्सिटी के रूप में परिणत हो गया। यह यूनीवर्सिटी सर सैयद अहमदखाँ का एक बहुत बड़ा काम है। जैसे-जैसे समय बीतता गया यह विश्वविद्यालय अपने उद्देश्यों की ओर बढ़ता गया और कुछ समय बाद वह मुस्लिम संस्कृति का केन्द्र बन गया। मुस्लिम संस्कृति के साथ वह मुस्लिम राजनीति का भी केन्द्र बन गया और उसकी गोद में मुसलमान राजनीतिज्ञों, मुस्लिम विचारधारा और दृष्टिकोण का पालन-पोषण होने लगा। अलीगढ़ में जो आन्दोलन शुरू हुआ उसमें निम्नलिखित बातों पर बड़ा जोर दिया गया :

१. भारत की वर्तमान सामाजिक और राजनैतिक अवस्था इस योग्य नहीं है कि यहां पाश्चात्य ढंग का स्वशासन प्रारंभ किया जा सके। क्योंकि यहां जाति और धर्म के बहुत बड़े-बड़े अन्तर मौजूद हैं। अगर यहां स्वशासन प्रारंभ किया गया तो उससे अल्पमत वाली जातियों को बड़ी हानि उठानी पड़ेगी और एक जाति दूसरी जाति पर शासन करने लगेगी तथा एक धर्म दूसरे धर्म को पदच्युत कर देगा।

२. यदि चुनावों के द्वारा प्रतिनिधित्व देने की प्रणाली चालू की गई तो बहुमत अल्पमत पर जुल्म करेगा क्योंकि अभी अल्पमत वाली जातियां इतनी शिक्षित नहीं हैं कि अपने अधिकारों और विशेषाधिकारों को समझ सकें।

३. मुसलमानों को अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करने में अपनी पूरी शक्ति लगा देनी चाहिए। पेगम्बर साहब ने कहा था; 'शिक्षा प्राप्त करने के लिए चीन की दीवारों के पास भी जाओ।' अतः मुसलमान पुराने विश्वास छोड़ दें। शान्तिपूर्ण तरीके से प्रगति करना ही अपना लक्ष्य बनालें। अगर वे आपस में लड़ते रहे तो कमजोर हो जायंगे और बहुमत के हाथ के खिलौने बन जायंगे। परिणाम यह होगा कि वे मिट जायंगे।

यह है सर सैयद अहमदखाँ के विचारों का सार। वह कांग्रेस विरोधी-किसी भी आन्दोलन में सम्मिलित होना मुसलमानों के लिए हानिकारक समझते थे। मुसलमानों के हितों की रक्षा करने के लिए उन्होंने "पेट्रिया-

टिक असोसिएशन" नामक एक संस्था का संगठन किया। वह मुसलमानों को राजभक्त बना देना चाहते थे ताकि बहुमत उन्हें दबा न सके।

इधर सरकार अपनी ताक में थी। कांग्रेस के बढ़ते हुए प्रभाव को कम करने के लिए उसने फूट डालने की अपनी पुरानी नीति पर फिर से सान चढ़ाने का उपक्रम किया। वह चाहती थी कि जनता की शक्ति आपस में लड़ने-झगड़ने में ही खर्च हो जाय और सन्तुलन भी बना रहे। अतः उसने राष्ट्रीयता के उठते हुए तूफान को रोकने के लिए साम्प्रदायिकता की दीवार खड़ी करने का निश्चय किया। उसने अपना वरद्-हस्त मुस्लिम साम्प्रदायिकता के सिर पर रख दिया। उसने उन्हें हिंदुओं से ज्यादा नौकरियां और ज्यादा प्रतिनिधित्व देने के प्रलोभन देना प्रारंभ किया।

फूट डालने की नीति

अपनी इस नीति को सफल बनाने के लिए नौकरशाही ने मुसलमानों का एक प्रतिनिधि मण्डल वाइसराय के पास भेजने के लिए वातावरण तैयार करना प्रारंभ किया। वाइसराय के प्राइवेट सेक्रेटरी कर्नल डनलप स्मिथ ने पहल की। उन्होंने अलीगढ़ कालेज के अंग्रेज प्रिन्सीपल को पत्र लिखकर यह प्रेरणा दी कि वह मुसलमानों का एक प्रतिनिधि मण्डल वाइसराय के पास भेजे। प्रिन्सीपल ने कालिज के सेक्रटरी नवाब मोशिनउल मुल्क को यह बात बताई और कहा कि यह काम जल्दी ही कर डालना चाहिए। विभिन्न प्रांतों के बड़े-बड़े मुसलमान नेताओं का संघ स्थापित किया गया और ३५ व्यक्तियों का एक प्रतिनिधि मण्डल वाइसराय के पास भेजने की तैयारी कर ली गई। यह प्रतिनिधि मण्डल पहली अक्तूबर सन् १९०६ को शिमला में वाइसराय से मिला। उसने साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व पर जोर दिया। वाइसराय ने बड़े ध्यान से उसकी बात सुनी और उसकी मांगों का पूरा खयाल रखने का आश्वासन दिया। सारी बातचीत बड़े सद्भावना के वातावरण में हुई और वाइसराय ने प्रतिनिधि मण्डल को एक पार्टी भी दी।

मुसलमानों का प्रतिनिधि मण्डल

शिमला में ही सब प्रतिनिधियों ने यह अनुभव किया था कि मुसलमानों

की एक संस्था बनाई जानी चाहिए। सन् १९०६ के दिसम्बर मास में मुस्लिम एजूकेशन कांफ्रेंस की बैठक हुई। इसी बैठक में ३० दिसम्बर के दिन मुस्लिम लीग का जन्म हुआ। सन् १९०७ में कराची में उसका विधान बना। जब इस प्रकार सब प्राथमिक बातें हो चुकीं तो उसका पहला अधिवेशन सैयद अली-इमाम की अध्यक्षता में अमृतसर में हुआ। लीग ने अपने उद्देश्य इस प्रकार घोषित किये :

मुस्लिम लीग

१. भारतीय मुसलमानों में राजभक्ति की भावना बढ़ाना और सरकार के इरादों के बारे में जो गलतफहमी पैदा हो, उसे दूर करना।

२. भारतीय मुसलमानों के राजनैतिक तथा अन्य अधिकारों की रक्षा करना और उनकी आवश्यकताओं तथा भावनाओं को विनम्र भाषा में सरकार के सामने रखना।

३. लीग के दूसरे उद्देश्यों को नुकसान पहुँचाए बिना भारत के मुसलमानों में दूसरी जातियों के प्रति सद्भावना पैदा करना।

इस प्रकार अंग्रेज अफसरों के इशारों पर कांग्रेस की शक्ति कम करने के लिए मुस्लिम लीग का जन्म हुआ। वह एक शुद्ध सांप्रदायिक संस्था थी जबकि कांग्रेस एक राष्ट्रीय संस्था। वह भारतीय के विरुद्ध भारतीय को खड़ा करने की नीति का परिणाम थी। अतः दोनों में खिंचाव होना स्वाभाविक था। कांग्रेस स्वराज्य चाहती थी और लीग अधिक नौकरियां, अधिक प्रतिनिधित्व और अधिक कृपा। कांग्रेस लोगों में आत्म-सम्मान की भावना भरना चाहती थी। अतः उसने भारतीय संस्कृति पर जोर दिया। लेकिन लीग इसे कैसे पसंद करती? उसके लिए यह चौंका देने वाली बात होगई। तिलक, स्वामी श्रद्धानंद और मालवीयजी हिंदू संगठन पर भी जोर दे रहे थे। बस इतनी ही बात उनका यह विचार दृढ़ करने के लिए काफी बन गई कि कांग्रेस हिंदुओं की संस्था है। कांग्रेस की उग्र-नीति थी। उसे वह कैसे पसन्द आसकती थी? परिणाम यह हुआ कि मुसलमान धीरे-धीरे कांग्रेस से हटने लगे। कांग्रेस ने पृथक् निर्वाचन का भी कड़ा विरोध किया। इस बात

लीग और कांग्रेस

में बहुत से विचारशील मुसलमान भी उसके साथ थे लेकिन लीग को अप्रसन्न करने के लिए ये सब बातें काफी थीं। इस प्रकार अंग्रेज राजनीतिज्ञ कांग्रेस की विचारधारा का मुकाबला करने के लिए जिस विचारधारा को खड़ा करना चाहते थे, वह लीग की विचारधारा के रूप में अपनी जड़ें जमाकर पल्लवित होने लगी।

लीग की गति-विधि

अधिक साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व और मुसलमानों को अधिक सरकारी नौकरियां यही लीग की प्रमुख मांगें थीं। सन् १९०९ के दूसरे अधिवेशन में भी उसने इन्हीं मांगों को दुहराया। मिण्टो-मार्ले-सुधार ने लीग की इन मांगों को बल पहुँचाया। इस सुधार के द्वारा सरकार ने धर्म को राजनैतिक अल्पमत का आधार मान लिया जो राष्ट्रीय-एकता के लिए एक जबरदस्त खतरा बन गया। इस सुधार ने साम्प्रदायवादी शक्तियों को भी मजबूत बना कर स्वतन्त्रता के संग्राम में बहुत-सी उलझनें खड़ी करदीं। फिर भी भारतीय-राजनीति में घटनाचक्र बड़ी तेजी से घूम रहा था। सन् १९१० से लेकर सन् १९१८ तक के समय में मुस्लिमलीग की राजनीति में हमें बड़ा परिवर्तन दिखाई देता है। इस समय लीग में दो दल हो गए। सरकार-परस्त और प्रतिक्रियावादी लोगों की शक्ति क्षीण होने लगी और राष्ट्रीय दृष्टिकोण वाले व्यक्ति आगे आकर उसकी राजनीति पर प्रभुत्व जमाने लगे। इसके दो प्रमुख कारण थे। सरकारी अफसरों का बदला हुआ रुख और विदेशी प्रभाव, लार्ड हार्डिंज, जो इस समय वाइसराय थे, कांग्रेस के प्रति कुछ सहानुभूति रखते थे। अतः मुस्लिम सम्प्रदायवादियों का बल अपने-आप कमजोर पड़ गया। इधर अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं ने भी मुसलमानों की आंखें खोलीं। सन् १९१२ में यूरोप में बाल्कान युद्ध छिड़ा। बालकन देश अपनी मुक्ति के लिए लड़ने लगे। रूस उनकी सहायता करने लगा। रूस और हालैंड की संधि थी। बालकन देश यह लड़ाई टर्की से लड़ रहे थे। टर्की का सुलतान मुसलमानों का खलीफा था। अतः मुसलमानों की सहानुभूति टर्की के साथ थी। अंग्रेजों को टर्की के विरुद्ध देखकर उनकी भावना को चोट पहुंची। प्रथम महायुद्ध के समय टर्की जर्मनी के साथ रहा था। मुसलमानों की टर्की

२. इस योजना के अनुसार केन्द्र में एक ऐसी सभा बनाने का सुझाव दिया गया जिसमें लगभग १५० सदस्य हों। इनमें ४/५ सदस्य चुने हुए तथा शेष सदस्य नामजद हों। चुने हुए सदस्यों में मुसलमानों की संख्या १/३ हो जो पृथक निर्वाचन के द्वारा चुने गए हों। धारा-सभा का चुनाव प्रति पांचवें वर्ष हो और धारा-सभा स्वयं अपने अध्यक्ष का चुनाव करे।

३. गवर्नर-जनरल शासन का सर्वोच्च अधिकारी रहे। उसकी व्यवस्थापिका सभा में आधे सदस्य धारासभा द्वारा चुने हुए हों। शेष आधों में आई० सी० एस० वालों को नामजद नहीं किया जाय। इस प्रकार बनी हुई व्यवस्थापिका सभा धारा-सभा के प्रति जिम्मेदार रहे और भारत सरकार साधारणतः प्रान्तीय सरकार के काम में दखल न दे।

४. प्रान्तीय धारा-सभाओं में ४/५ चुने हुए तथा १/५ नामजद सदस्य हों। बड़े प्रान्तों में धारा-सभा के सदस्यों की संख्या १२५ तथा छोटे प्रांतों में ७० और ५० के बीच हों। प्रान्तों में धारा-सभा के स्थानों का बंटवारा इस प्रकार हों कि मुसलमानों को इतने स्थान प्राप्त हों :

पंजाब में ५०%, यू० पी० में ३०%, बंगाल में ४०%, बिहार में २५%, सी० पी० में १५%, मद्रास में १५% बंबई में ३३%।

५. गवर्नर प्रांत का सबसे बड़ा अधिकारी रहे। उसकी व्यवस्थापिका सभा का निर्माण भी केन्द्र की ही भांति हो।

६. इण्डिया कौन्सिल समाप्त कर दी जाय। भारत-मंत्री का वेतन इंग्लैंड के सरकारी खज़ाने से दिया जाय और वह डोमीनियन सेक्रेटरी की भांति काम करे। उसके मातहत दो सेक्रेटरी काम करें, जिनमें एक भारतीय हो।

७. भारत को औपनिवेशिक दर्जा दिया जाय और दुनिया के प्रश्नों पर निर्णय करने के लिए जो इम्पीरियल कौंसिल बनी है उसमें भारत को भी प्रतिनिधित्व दिया जाय। भारतीयों को वही अधिकार दिये जायं जो अंग्रेज नागरिकों को प्राप्त हैं।

सरकार के सामने स्वीकृति के लिए इसे पेश किया गया लेकिन सरकार ने व्यवस्थापिका के धारा-सभा के प्रति जिम्मेदार होने के सिद्धान्त को

नहीं आया । यह अवसर की [illegible] देने के लिए भी तैयार नहीं हुई । [illegible] इसे [illegible] नहीं [illegible] चाहती थी कि इससे [illegible] और [illegible] की [illegible] प्राप्त हो जाता था । सरकार ने सन् १६११ में एक [illegible] की ओर अपनी नीति प्रकट की । परिणाम यह हुआ कि हिन्दू-मुस्लिम एकता का यह युग, जिसमें [illegible] के रूप में देखे [illegible] इनकी [illegible] और [illegible] तथा [illegible] में जो सद्भावना का [illegible] लगा था, वह फिर [illegible] होने लगा । कुछ समय के बाद भी सरकार ने कुछ [illegible] मुसलमानों को अपनी ओर आकर्षित किया और उनके कानों में यह [illegible] इस तरह फूंक दिया कि उन्होंने [illegible] के साथ [illegible] करना ही अपनी नीति बना ली । इसमें कोई शक नहीं कि यह देश के लिए बड़ा दुर्भाग्य की बात थी ।

: १३ :

द्वितीय युग की मूल प्रवृत्तियां और महापुरुष

भारतवाद की विचारधारा

पहले कहा जा चुका है कि बीसवीं शताब्दी के पहले १६ वर्ष भारतीय राष्ट्र-जागरण के इतिहास में उस विचारधारा के उदय और विकास के वर्ष हैं । यदि विचारपूर्वक देखें तो धार्मिक पुनरुत्थान की भावना ही इस विचारधारा की मूलस्रोत प्रतीत होती है । लोकमान्य तिलक, लाला लाजपतराय, विपिनचन्द्र पाल और अरविन्द घोष जैसे सभी महापुरुष उस युग के धार्मिक पुनरुत्थान से प्रभावित थे । उन्होंने प्राचीन साहित्य का गहरा अध्ययन किया था और उनमें से कुछ तो बड़ी धार्मिक रुचि के व्यक्ति थे । उनके मन में अपने देश और भारतीयता के प्रति अगाध प्रेम और भक्ति थी । वे अंग्रेजी शिक्षा, विचार-धारा, शासन, और रीति-नीति सभी के विरुद्ध थे । अपने 'केसरी' नामक पत्र में लोकमान्य केवल ब्रिटिश-शासन की ही आलोचना नहीं करते थे, समय-समय पर ईसाई और मुसलमान धर्मों की भी आलोचना करते थे । उन्होंने अपने ग्रन्थों और लेखों के द्वारा वेद, उपनिषद् और गीता के

सिद्धान्तों एवं आदर्शों का काफी प्रचार किया था। मांडले जेल में लिखा गया उनका 'गीता रहस्य' तो चारों ओर फैल गया था। उन्होंने गणपति उत्सव और शिवाजी उत्सव जैसे धार्मिक और सामाजिक उत्सव प्रारंभ किये थे जो सन् १८९५ से प्रति वर्ष मनाये जाते थे। उनकी लोक-प्रियता का यही मुख्य कारण था कि उन्होंने जन-मानस की आशा-आकांक्षाओं को बहुत सुन्दर ढंग से व्यक्त किया था।

बंगाल के गरम विचार वाले नेताओं के राजनैतिक विचारों पर भी धार्मिकता का बड़ा असर था। यद्यपि श्री विपिनचन्द्र पाल एक स्वतन्त्र विचारक थे और विद्याध्ययन समाप्त करने के बाद ही वह ब्रह्म-समाज में सम्मिलित हो गए थे तथापि बंगाली जनता में जाग्रति का मन्त्र फूंकने के लिए उन्होंने भी सांस्कृतिक राष्ट्रीयता का आश्रय लिया था। सन् १९०१ में उन्होंने 'न्यू-इंडिया' नामक पत्र निकाला और उसके द्वारा नरम दली नेताओं, उनकी विचार-धारा तथा कार्य-प्रणाली की खूब खबर ली। बंग-भंग के बाद से श्री अरविन्द उनके साथ काम करने लगे। श्री अरविन्द आध्यात्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे। वेदान्त में उनकी बड़ी रुचि थी। 'वन्देमातरम्' के सम्पादन में वह श्री पाल का हाथ बटाने लगे। श्री अरविन्द की यह विशेषता थी कि उन्होंने पौराणिक कथाओं तथा देवी-देवताओं को नये राजनैतिक अर्थ तथा नये रूप-रंग के साथ चित्रित किया था। श्री विपिनचन्द्र पाल ने कहा : "हम काली और दुर्गा को पूजते हैं लेकिन वे कमजोरों को न कोई प्रेरणा दे सकती हैं न सन्देश।" श्री अरविन्द घोष ने कहा : "अपनी सब बातों में स्वतन्त्रता प्राप्त करना ही जीवन का लक्ष्य है। हमारी इस इच्छा की पूर्ति हिन्दू-धर्म के द्वारा ही हो सकती है।" वह कहते थे कि राष्ट्रीयता एक धर्म है। ईश्वर ने ही उसे नियन्त्रित किया है। उसका अन्त नहीं हो सकता क्योंकि ईश्वर ही बंगाल को राष्ट्रीयता की प्रेरणा दे रहा है।

नरम विचारधारा के प्रति विद्रोह

नरम दली नेता प्रत्येक प्रश्न पर इस दृष्टि से विचार करते थे कि सत्य क्या है और असत्य क्या है तथा न्याय क्या है और अन्याय क्या है। क्योंकि अंग्रेजों की सत्य और न्याय-प्रियता में उन्हें पूरा विश्वास था लेकिन सारी स्थिति देख

कर गरम दल के लोगों का यह विचार दृढ़ होने लगा था कि अंग्रेज कभी सत्य और न्याय के सिद्धान्तों पर चलकर अपने साम्राज्य से हाथ धोने के लिए तैयार नहीं होंगे। नरम विचार के नेता वैधानिक मार्ग पर चल कर शासन-सुधार करवाना चाहते थे लेकिन उग्र विचार-वादी नेताओं का लक्ष्य था स्वराज्य। वे मानते थे कि अंग्रेजों के साथ किसी भी प्रकार का सहयोग करना लाभ-दायक नहीं हो सकता। क्योंकि भौतिक और नैतिक दोनों दृष्टियों से वे देश को मिटा रहे हैं। उनका विचार था कि अब प्रार्थना-पत्रों से काम नहीं चल सकता। अब तो हमें अपनी शक्ति के बल पर ही खड़ा होना चाहिए। तिलक ने कहा था : "राजनीति में कोई परोपकार नहीं करता। अतः अपनी शक्ति का संगठन करके देश के काम में जुट जाओ तभी जो तुम चाहते हो वह मिल सकेगा।" श्री विपिनचन्द्र पाल के विचारों में बड़ी मौलिकता और स्पष्टता थी। उन्होंने कहा : "कोई किसी को स्वराज्य नहीं देसकता। यदि आज अंग्रेज मुझसे कहें कि स्वराज्य ले लो तो मैं उसे ठुकरा दूंगा क्योंकि जिस वस्तु को मैं स्वयं उपार्जित नहीं कर सकता उसे लेने का मैं अधिकारी नहीं हूँ।" वह एक स्वतन्त्र भारत की स्थापना करना चाहते थे। इस प्रकार हम देखते है कि गरम दल की विचारधारा का उदय नरम दल की विचार-धारा के विद्रोह के रूप में हुआ था।

गरम दल की कार्य-प्रणाली

गरम दल के नेता बम और तलवार-बन्दूक में विश्वास नहीं करते थे। अपने राजनैतिक लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए उनके पास दो मार्ग थे—प्रभावशाली राजनैतिक आन्दोलन और रचनात्मक कार्य। प्रभावशाली राजनैतिक आन्दोलन का संगठन और प्रारंभ करके वे सरकार पर इतना असर डालना चाहते थे कि वह उनकी बात मानने के लिए विवश हो जाय। श्री विपिनचन्द्र पाल ने अपनी कार्य-प्रणाली के बारे में कहा था : "हमें देश में इतना काम करना चाहिए, जनता के साधनों को इस प्रकार एकत्र कर देना चाहिए, राष्ट्र की शक्ति को इस प्रकार संगठित कर देना चाहिए और जाति में स्व-तन्त्रता की भावना का इतना विकास कर देना चाहिए कि अपने विरुद्ध

खड़ी होने वाली किसी भी शक्ति को हम अपनी इच्छा के सामने झुका सकें। यही हमारा कार्यक्रम है।"

वह कहते थे कि अहिंसक आन्दोलन और सविनय अवज्ञा के द्वारा ही स्वतन्त्रता की दिशा में कदम बढ़ाना चाहिए। उनके सविनय अवज्ञा आन्दोलन में सरकारी नौकरियों, सरकारी संस्थाओं, तथा सरकारी उपाधियों का बहिष्कार निहित था। यह सब निषेधात्मक कार्यक्रम था। उनके विधेयक कार्यक्रम में स्वदेशी वस्तुओं तथा भारतीय उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन देना, विदेशी माल का बहिष्कार और राष्ट्रीय शिक्षा का प्रचार आदि बातें थीं। इसमें वह अपनी पूरी शक्ति लगाना चाहते थे।

क्रान्तिकारियों की विचार-धारा

गरम दल की प्रवृत्तियों पर विचार करने के बाद अब हम क्रान्तिकारियों की विचारधारा पर भी विचार करेंगे। क्योंकि उनके कामों को कुछ पागल लड़कों का काम कह कर उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखा जा सकता। यह ठीक है कि हिंसा और मारकाट के द्वारा राजनैतिक प्रगति में बाधा उपस्थित होती है और कमजोर लोगों के लिए तो उसमें सफलता की भी कम ही आशा होती है लेकिन वह लोगों के मन की घोर अशान्ति, असन्तोष और निराशा को व्यक्त करते हैं। यदि कोई राष्ट्र या जाति लगातार अत्याचार, अपमान और उत्पीड़न सहकर भी जिन्दा रहती है तो वह मृततुल्य ही है। ऐसा जीवन जीवन नहीं होता। भारतीय जाति पर जब-जब इस प्रकार के कठिन प्रसंग आये उसने एक जीवित जाति की तरह उसका विरोध किया।

आतंकवादी विचारधारा

लाला लाजपतराय ने भारतीय क्रांतिकारियों को दो श्रेणियों में विभक्त किया है—क्रांतिकारी और आतंकवादी। आतंकवादियों का विश्वास था कि ब्रिटिश सरकार धोखे और पशुबल के आधार पर बनी हुई एक अत्यन्त विषैली संस्था है। अतः उसे हिंसक तरीकों से नष्ट करने में कोई बुराई नहीं है। इतना ही नहीं वे उसे मिटाना अपना परम कर्तव्य और धर्म समझते थे। दूसरी ओर धर्म की ओर भी उनका झुकाव था। वे एक हाथ में बम और दूसरे में गीता लेकर अपने देश की मुक्ति का कार्य करते थे। गीता में दिया हुआ भग-

वान् कृष्ण का युद्ध करने का सन्देश उनकी प्रेरणा का स्रोत था। वे काली और दुर्गा की भी उपासना करते थे। उनकी देशभक्ति, ईमानदारी और निश्चय की दृढ़ता पर कोई शक नहीं किया जा सकता। वे अपने लक्ष्य के प्रति सच्चे और बहादुर व्यक्ति थे। उन्होंने डाके और लूटमार को भी अपने कार्यक्रम का एक अंग बना लिया था। वे सरकारी धन तो लूटते ही थे, उन लोगों को भी अपना शत्रु समझते थे जो सरकार की मदद करते या उसके साथ सहानुभूति रखते थे। उनकी इस नीति ने जनता के एक बड़े भाग को अप्रसन्न कर दिया।

क्रांतिकारियों की विचारधारा

क्रांतिकारी लोग हत्या और लूटमार में विश्वास नहीं करते थे। वे तो सरकार के विरुद्ध एक संगठित विद्रोह करना चाहते थे। इस विद्रोह के लिए यदि उनको हत्या-डकैती या अन्य कोई भी बात करनी पड़ती तो वे उसके लिए तैयार रहते थे; लेकिन यदि इनकी आवश्यकता नहीं पड़ती तो वे इनमें नहीं पड़ते थे। लाला हरदयाल और उनका दल इसी विचारधारा पर कार्य कर रहे थे। उनका कहना था कि गुलामी के बन्धनों से जकड़ा हुआ जीवन कोई जीवन नहीं होता। क्योंकि उसके बढ़ने और विकास करने के सारे मार्ग बन्द हो जाते हैं। वह अपने स्वामी की दया पर ही जीवित रहता है। अतः अपने शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक विकास के लिए मनुष्य को गुलामी के बन्धन से मुक्त होना चाहिए। कोई भी व्यक्ति या राष्ट्र स्वतन्त्र होने पर ही अपने स्वाभिमान, लाभ, सुविधा और शान की रक्षा कर सकता है। अतः इस दल के व्यक्ति सेना में असन्तोष फैलाने तथा आन्तरिक विद्रोह का संगठन करने में ही अपनी शक्ति लगाते रहे। इन्होंने शस्त्रास्त्र प्राप्त करने के लिए विदेशों का आश्रय लिया। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि इन दलों का संगठन शक्तिशाली बनना संभव नहीं था। क्योंकि एक तो उनके मुकाबले में एक बहुत अधिक शक्तिशाली सरकार थी, दूसरे जनता को भी यह मारकाट का तरीका पसन्द नहीं था।

लोकमान्य बालगंगाधर तिलक का जन्म महाराष्ट्र में एक चितपावन ब्राह्मण परिवार में सन् १८५६ में हुआ था। उनके पिता स्कूलों के

इन्स्पेक्टर थे। बीस वर्ष की उम्र में ही उन्होंने बम्बई विश्वविद्यालय में बी० ए० पास किया। शिक्षा समाप्त करने के बाद उन्होंने 'डेकन एजूकेशन सोसायटी' में दिलचस्पी लेकर काम प्रारम्भ किया। सन् १८९० तक वह फर्ग्यूसन कालेज में शिक्षण का काम करते रहे। इसके बाद वह उससे अलग होकर 'केसरी' पत्र का संपादन करने लगे। अपने इस पत्र के द्वारा उन्होंने सुधारवादियों की आलोचना प्रारम्भ की जिसके कारण वह पुराने विचार के रूढ़ीवादी लोगों में लोकप्रिय होने लगे। इसके बाद नाटू-बन्धुओं की सहायता से वह इस बात का जोरदार प्रचार करने लगे कि भारतवासी अपनी सभ्यता, संस्कृति और धर्म का इतना जबरदस्त अपमान सहन नहीं कर सकते। उन्होंने सन् १८९३ में गणेशोत्सव तथा सन् १८९५ में शिवाजी उत्सव प्रारम्भ किये। इन उत्सवों में, भाषण, संगीत, व्यायाम के प्रदर्शन तथा जलूसों का कार्यक्रम रहा करता था। इन उत्सवों ने जनता में साहस और देशभक्ति क भावना भरना प्रारम्भ किया और ये बड़े लोक-प्रिय होने लगे। कुछ समय के बाद इनकी लोकप्रियता महाराष्ट्र के भी बाहर फैलने लगी। हिंदुत्व के पुनरुत्थान की दिशा में उन्होंने बहुत काम किया। सन् १९०५ से लेकर सन् १९०७ तक के कांग्रेस अधिवेशनों में वही गरम दल के एक-मात्र सबसे बड़े नेता के रूप में दिखाई दिये। सन् १९०८ में उन्हें ६ वर्ष की सजा हुई और वह मांडले जेल भेज दिए गये। जेल में उन्होंने वेदों, उपनिषदों का गंभीर अध्ययन किया और आर्यों की प्राचीनता के सम्बन्ध में शोध-कार्य किया। सन् १९१४ में जब वह जेल से छूटे तो देश में उनका बड़ा स्वागत हुआ।

लोकमान्य बालगंगाधर तिलक

उनके सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं। यूरोपियन लेखक उन्हें एक कट्टर हिंदू मानते हैं और कहते हैं कि उन्होंने हिंदुत्व के उत्थान के ही लिए कार्य किया। इधर बहुत से भारतीय विद्वान उनकी प्रशंसा करते हैं। लेकिन यह निश्चित है कि राजनीति के क्षेत्र में वह न तो एक स्वप्नदर्शी थे न आदर्शवादी। उनके विरोधी भी उनकी दृढ़ इच्छा शक्ति, विद्वत्ता और साहस की प्रशंसा करते हैं। उनकी संगठन शक्ति

भी कमाल की थी। वह युवकों के हृदय-सम्राट थे। उस युग में वह ही एक ऐसे व्यक्ति थे जिन्हें लगातार जेलों में रहना पड़ा। जनता उन्हें इतना चाहती थी कि वह बेताज के बादशाह कहे जाते थे। उस समय इतनी लोक-प्रियता और सम्मान किसी को नहीं मिला। उनकी बुद्धि प्रखर थी। वह जो कुछ करते थे दृढ़ इच्छा-शक्ति और अदम्य निश्चय के साथ करते थे। गांधीजी ने उनके बारे में लिखा : "तिलक मुझे हिमालय की तरह महान् उच्च परन्तु अगम्य दिखाई दिये।"

लाला लाजपतराय

पंजाब-केसरी लाला लाजपतराय अपने समय के एक बहुत बड़े जन-नेता थे। उन्होंने लाहौर में दयानंद एंग्लो वैदिक कालेज की स्थापना की और कुछ वर्ष तक उसमें इतिहास के अध्यापन का कार्य करते रहे। उन्होंने आर्यसमाज के आन्दोलन में भी बड़ा भाग लिया। वह बहुत बड़े समाज-सुधारक, एक उच्चकोटि के वकील और पत्रकार थे। उन्होंने 'पंजाबी' नामक अंग्रेजी पत्र की स्थापना की थी, और उसके तथा अन्य पत्रों के संपादन का भी कार्य किया था। भारत की गुलामी का उनके ऊपर बड़ा प्रभाव पड़ा। अतः इस बन्धन को तोड़ने के लिए वह जीवन भर एक योद्धा की तरह लड़ते और कष्ट उठाते रहे। सन् १९०७ में केवल शक पर ही उन्हें नजरबन्द करके मांडले भेज दिया गया, जहां वह छः महीने रहे। उनका केवल यही अपराध था कि वह देशभक्त थे, और अपने देश के काम में रात-दिन जुटे रहते थे। सूरत कांग्रेस के बाद वह नरम दल वालों के साथ काम करने लगे। लेकिन सरकार की उनपर वैसी ही कड़ी दृष्टि रही। युद्ध के दिनों में तो वह एक निर्वासित की भाँति विदेशों में भटकते रहे। युद्ध समाप्त होने के बाद उन्हें भारत आने की स्वीकृति मिली और उन्होंने गांधीजी के असहयोग आन्दोलन में काम किया। कांग्रेस की मुसलमानों को खुश करने की नीति उन्हें पसन्द नहीं आई और वह हिन्दू विचारधारा के राष्ट्रीय लोगों के साथ काम करने लगे। साइमन कमीशन के विरोध में सन् १९२८ में, जब वह एक जलूस का नेतृत्व कर रहे थे, पुलिस के लाठी चार्ज ने उनके जीवन का अन्त कर दिया और वह असमय में ही उठ गए। उन्होंने जीवन में कभी

पद-प्रतिष्ठा और मान-सम्मान की परवाह नहीं की। उनकी मृत्यु से आजादी के संग्राम का एक बहुत बड़ा योद्धा उठ गया। अपनी अन्य विशेषताओं के साथ वह एक बड़े प्रभावशाली वक्ता थे। उर्दू में तो वह बड़ा जोशीला भाषण देते थे। इन विशेषताओं के कारण ही वह 'पंजाब-केसरी' कहे जाते थे।

लाला हरदयाल

लाला हरदयालजी का जन्म सन् १८८४ में दिल्ली के एक कायस्थ परिवार में हुआ था। उनकी शिक्षा एक मिशनरी स्कूल में ईसाइयों की देख-रेख में हुई। सन् १९०३ में उन्होंने गवर्नमेंट कालिज लाहौर से अंग्रेजी विषय में एम० ए० पास किया। वह इस परीक्षा में सर्वप्रथम रहे थे। उनकी इस प्रतिभा के कारण उनको विदेश में अध्ययन करने के लिए छात्रवृत्ति दी गई। वह आक्सफोर्ड के सेन्ट जॉन्स कालेज में भर्ती हुए और अध्ययन करने लगे। यहां भी अपनी असाधारण प्रतिभा से वह प्रसिद्ध हो गए; लेकिन यहां उनके मन में अंग्रेजों के प्रति विरोध की भावनाएं बढ़ने लगीं और वह इतनी तीव्र हुईं कि वह छात्रवृत्ति छोड़कर भारत आगए। वह पूर्णतः एक क्रान्तिकारी बन गए। लाला लाजपतराय ने उनके बारे में लिखा है : "उनको यह विश्वास हो गया था कि अंग्रेज लोग भारतीयता की जड़ें काट रहे हैं। उनकी शिक्षा सम्बन्धी रीति-नीति इसी प्रकार बनाई गई है कि उनको सामाजिक चेतना और राष्ट्रीय व्यक्तित्व का विनाश करके हिन्दुत्व को मिटा दिया जाय और उन्हें हमेशा के लिए गुलामी के बन्धन में जकड़ दिया जाय।"

उन्होंने पश्चिमी ढंग का रहन-सहन छोड़ दिया और वह अपने क्रांतिकारी विचारों का प्रचार करने लगे। सरकार चौंकी। उसने उनपर कड़ी दृष्टि रखना प्रारंभ किया। अतः लालाजी ने यह तय किया कि वह हमेशा के लिए भारत छोड़ दें। वह यूरोप पहुंचे और वहां के क्रान्तिकारियों से मिले। वहां से वह अमरीका में जाकर रहने लगे। अमरीका में उन्होंने 'गदर पार्टी' की स्थापना की और वहां के भारतीय लोगों में क्रांतिकारी विचारों का प्रचार करने लगे। उनकी गदर-पार्टी बड़ी शीघ्रता से लोक-

प्रियता प्राप्त करने लगी और हर तरह से लोग खिंचकर उनके पास आने लगे। सन् १९१२में वह स्टेनफोर्ड यूनीवर्सिटी में दर्शन के प्रोफेसर हो गए। लेकिन महायुद्ध प्रारंभ होने पर उन्होंने जर्मनी के साथ मिलकर काम करने के विचार का प्रचार किया। अतः वह गिरफ्तार कर लिये गए। बाबा गुरुमुखसिह ने पांच हजार डालर की जमानत देकर उन्हें छुड़ाया। बस इसी समय वह चुपके से स्वीट्जरलैण्ड चले गए। उन्होंने जर्मन अधिकारियों से मिलकर कहा कि यदि वह भारतीय क्रांतिकारियों की मदद करते हैं तो लड़ाई जीतने में उन्हें बड़ी सुविधा होगी। उन्होंने अपने साथी राजा महेन्द्रप्रताप को अफगानिस्तान भेजा ताकि वह अंग्रेजों के विरुद्ध काम करें। उनके दल ने भारत में सशस्त्र विद्रोह करने के कई असफल प्रयत्न किये। जर्मनी की पराजय के बाद वह स्टाकहोम में रहने लगे। कुछ दिनों बाद वह वहां से हालैण्ड गये और वहां उन्होंने बहुत-सी पुतस्कें लिखीं। इन्हीं दिनों जब वह अमरीका में भाषण देने गए तो वहां उनकी मृत्यु हो गई। उनका सारा जीवन एक बहादुर योद्धा की भांति अपने सीमित साधनों से एक बहुत बड़ी साम्राज्यवादी शक्ति का मुकाबला करते हुए बीता। उनके हृदय में देश को आजाद बनाने की जबरदस्त छटपटाहट थी, उसीके लिए सारे जीवन कठिनाइयों और कष्टों का वरण करते हुए वह सतत कार्य करते रहे।

श्री विपिनचन्द्र पाल

श्री विपिनचन्द्र पाल का जन्म ६ नवम्बर सन् १८५८ में सिलहट जिले के एक रूढ़ीवादी परिवार में हुआ था। उनकी शिक्षा कलकत्ता में हुई। विद्यार्थी जीवन में श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के भाषणों का उनपर बड़ा प्रभाव पड़ा। वह कालेज-जीवन में ही राजनैतिक हलचलों में भाग लेने लगे और कालेज की शिक्षा समाप्त करने के बाद ब्रह्म-समाजी हो गए। उनके इस कार्य से उनके पिताजी को बड़ा बुरा लगा और उन्हें उनसे अलग रहना पड़ा। वह एक शिक्षक के रूप में अलग-अलग प्रांतों में कार्य करते रहे। इसके बाद पत्रकारिता में उनकी दिलचस्पी हुई और वह पत्र निकालने लगे। अब वह कांग्रेस की हलचलों में भाग लेने लगे। कलकत्ता और सूरत कांग्रेस के समय

लोकमान्य तिलक को सभापति बनाने के लिए उन्होंने बड़ा प्रयत्न किया। उन्होंने यूरोप और अमरीका की यात्रा की और अपनी प्रतिभा तथा विद्वत्ता के कारण उनकी ख्याति चारों ओर फैल गई। जैसे-जैसे उनकी आयु बढ़ती गई उनके विचारों में नरमी आने लगी। वह एक अच्छे वक्ता और विचारक थे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उन्होंने अपने भाषणों और लेखों से उस पीढ़ी के युवकों में नई चेतना का संचार किया था।

श्री अरविंद घोष

श्री अरविंद घोष का जन्म बंगाल में हुआ था। उनके पिता डा० के. डी. घोष एक अच्छे सरकारी पद पर कार्य करते थे। श्री अरविन्द की शिक्षा लन्दन के सेन्ट पॉल स्कूल में तथा केम्ब्रिज विश्वविद्यालय में हुई। सन१८६० में उन्होंने आई० सी० एस० की परीक्षा पास कर ली। लेकिन घुड़सवारी की परीक्षा में असफल रहने के कारण उन्हें सरकारी नौकरी नहीं दी गई। लाला लाजपतराय ने लिखा है कि : "उनको छोड़कर और किसी के लिए कभी असफलता वरदान नहीं बनी।" भारत आकर वह बड़ोदा के महाराजा कालेज में वाइस प्रिन्सीपल के स्थान पर कार्य करने लगे। सन् १६०६ में उन्होंने नौकरी छोड़ दी और वह 'वन्देमातरम्' पत्र में काम करने कलकत्ता चले गये। यहां वह केवल १० पौण्ड मासिक वेतन लेकर नेशनल कालेज के प्रिन्सीपल के स्थान पर भी कार्य करने लगे। कुछ समय बाद वह पूरी तरह राजनैतिक कार्यों में जुट गए। थोड़े से समय में ही वह चारों ओर प्रसिद्ध हो गए। 'सरल जीवन उच्च विचार' उनका आदर्श था। उन्होंने प्राचीन ग्रन्थों का बड़ा गहरा अध्ययन किया था जिसके परिणामस्वरूप उनके ऊपर वेदान्त का बड़ा असर हुआ। क्रान्तिकारियों के तो मानो वह प्राण थे। सन् १६०८ में अपने भाई वारीन्द्र घोष के साथ उनपर भी सरकार के विरुद्ध लड़ाई शुरू करने के जुर्म में मुकदमा चला। इसी मुकदमे की पैरवी करने के लिए श्री चितरंजनदास की ख्याति चारों ओर फैली। उनकी विद्वत्तापूर्ण पैरवी के कारण अरविन्द बाबू छूट गए लेकिन सन् १६१० में उनकी गिरफ्तारी के लिए एक दूसरा वारन्ट जारी हुआ। आध्यात्मिक साधना में उनकी रुचि दिन-प्रति-दिन बढ़ती जा रही थी। अतः वह पाण्डी

चेरो चले गए । वहां आध्यात्मिक साधना करते हुए वह अभी कुछ वर्ष पूर्व ही हमारे बीच से उठ गए हैं। हिन्दू धर्म और दर्शन पर लिखे गए उनके बहुत से ग्रन्थ हमारी अमूल्य सम्पत्ति हैं।

: १४ :

गांधी-युग का श्रीगणेश

गांधी-युग का प्रारम्भ

महायुद्ध की समाप्ति के बाद भारत में एक नए युग का उदय हुआ, जिसे गांधी-युग कहा जाता है। यह युग रचनात्मक राष्ट्रीयता और जन-आन्दोलन का युग है। इस युग में गांधीजी हमें भारत की राजनीति पर पूरी तरह छाए हुए दिखाई देते हैं। उनके सत्य और अहिंसा के सिद्धान्त, रचनात्मक कार्यक्रम, सविनय अवज्ञा आन्दोलन, सत्याग्रह, उपवास सब कुछ इस युग पर एक जबरदस्त प्रभाव रखते हैं और इस युग की सभी बड़ी-बड़ी घटनाओं और हलचलों से उनका सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। उनके नेतृत्व में भारतीय स्वतन्त्रता का संग्राम अंग्रेजों के विरुद्ध एक खुले विद्रोह के रूप में प्रारम्भ हो गया और उसने अंग्रेजी शासन का अन्त करके ही चैन लिया।

महायुद्ध का भारत पर प्रभाव

सरकार की ओर से की गई बड़ी-बड़ी घोषणाओं और लम्बे-चौड़े वादों के कारण भारतीय जनता की आँखें अंग्रेज सरकार की ओर लगी हुई थीं। सरकार से स्वशासन की दिशा में बहुत कुछ प्राप्त करने की अपेक्षा थी। लेकिन जब शान्ति-सम्मेलन में भारतीय प्रतिनिधि के रूप में भारत-मन्त्री मि० माण्टेग्यू, लार्ड सिन्हा और बीकानेर के महाराज सम्मिलित हुए तो शिक्षित वर्ग को बड़ी निराशा हुई। मुसलमान तो पहले से ही चिढ़े हुए थे। उनमें स्वदेश-भक्ति की भावना और बढ़ने लगी। लड़ाई के दिनों में लोगों को जबरदस्ती फौज में भर्ती किया गया था, और उससे लोगों में बड़ा असंतोष फैला था। बहुत जगह लोगों को रास्ते चलते ही पकड़ कर जबरदस्ती भर्ती कर लिया गया था और जिसने भागने का प्रयत्न किया उसे गोली से उड़ा

दिया गया। इन अत्याचारों से जनता बड़ी त्रस्त थी। इसी प्रकार रेडक्रास का चन्दा इकट्ठा करने में भी बड़ी जबरदस्ती की गई थी। लड़ाई समाप्त होते ही देश में बेकारी बढ़ने लगी और मन्दी फैलने लगी।

इस प्रकार एक ओर असन्तोष और अशान्ति की सृष्टि कर दूसरी ओर महायुद्ध ने लोगों में नई चेतना और राष्ट्रीयता का उदय भी किया। उसने लोगों को शिक्षित बनाने की दिशा में बड़ा कार्य किया। जिन सिपाहियों ने फ्लेंडर्स के दल-दल वाले मैदान में, मिश्र के रेगिस्तान में तथा मेसोपोटामिया के लू से जलते हुए प्रदेश में शत्रुओं का मुकाबला कर उनके दांत खट्टे किये थे वे सब ग्रामों के थे। अपने ग्राम लौटकर उन्होंने अपने रिश्तेदारों, पड़ोसियों और मित्रों को युद्ध के कड़वे-मीठे अनुभव सुनाये। उन्होंने बताया कि जब विजय प्राप्त करके वे लन्दन की सड़कों पर से गुजरे तब अंग्रेज लोगों ने उनका कैसा स्वागत किया था। यूरोप के अन्य देशों में भी, जहाँ से वे गुजरे, उनका कैसा आदर-सम्मान किया गया था। युद्ध के दिनों में उनका समाचार जानने तथा उनको पत्र लिखवाने के लिए उनके पिता, भाई, बहन और मां शिक्षित लोगों के पास जाते रहते थे और उनके सम्पर्क में आकर देश तथा महायुद्ध की गति-विधि को भी समझने का प्रयत्न करते थे, जिससे चारों ओर नई चेतना का संचार हो रहा था। जो लोग लड़ाई से लौटकर आये थे वे तो पूरी तरह बदल गए थे। अब वे साफ-सफाई से रहना सीख गए थे और उनकी बातों को आसपास के लोग बड़े ध्यान से सुनते थे। इस तरह महायुद्ध ने चारों ओर एक नवीन राष्ट्रीयता का उदय कर दिया।

हम ऊपर कह चुके हैं कि इस युग को गांधी-युग कहा जाता है।

महात्मा गांधी

गांधीजी की लोक-प्रियता इन दिनों बढ़ती जा रही थी। सन् १९१४ में वह भारत आ गए थे। दक्षिण अफ्रीका में सत्याग्रह की लड़ाई छेड़कर और वहाँ की सरकार की रंग-भेद की नीति के खिलाफ लड़कर उन्होंने काफी प्रसिद्धि प्राप्त करली थी। वह अहमदाबाद के पास साबरमती नदी के किनारे साबरमती आश्रम की स्थापना करके रह रहे थे। उन्होंने भारत के किसानों और मजदूरों की

समस्या को समझने और उनके लिए कार्य करने की दिशा में प्रयत्न प्रारंभ किया। अपने गुरु गोखलेजी की सलाह मानकर वह एक वर्ष तक चुपचाप देश की स्थिति का अध्ययन करते रहे। अप्रैल १९१७ में उन्होंने चम्पारन के किसानों का प्रश्न अपने हाथ में लिया। मोतीहारी (बिहार) पहुँच कर उन्होंने वहाँ के किसानों की तकलीफों की जाँच करना प्रारंभ किया। वहाँ के किसान निलहे गोरों के अत्याचार से बड़े पीड़ित थे। उन्हें गोरे नील की खेती के लिए मजबूर करते थे और उन पर अनेक अत्याचार करते थे। सरकार ने गांधीजी को दफा १४४ के अधीन यह आज्ञा दी कि वह शीघ्र ही जिला छोड़कर चले जायं। गांधीजी ने वैसा करने से इन्कार कर दिया। इतना ही नहीं, उन्हें लड़ाई में सहायता करने के उपलक्ष में जो 'केसरे हिन्द' मैडल मिला था, वह भी लौटा दिया। सरकार परेशानी में पड़ी। उसने मुकदमा उठा लिया। गांधीजी ने बीस हजार किसानों के बयान लेकर उनकी मांगें सरकार के सामने रखीं। सरकार ने एक कमीशन बैठाया और अन्त में किसानों की बहुत-सी मांगें स्वीकार कर ली गईं। इस सफलता ने उनको भारत में भी प्रसिद्ध कर दिया और लोगों की आँखें उनके सत्याग्रह की ओर लग गईं।

यद्यपि ऊपर से वह कोई प्रभावशाली या प्रतिभाशाली व्यक्ति नहीं दिखाई देते थे, तथापि उनकी निःस्वार्थ सेवा की वृत्ति, निर्भयता और नैतिकता ने चारों ओर उनके प्रति आदर और श्रद्धा की भावना फैला दी। वह भारत की जाग्रति के प्रतीक के रूप में आगे आये और उन्होंने लोगों के सामने वही प्राचीन आदर्श रखे, जिन्हें लोग भूल-से गए थे।

रौलट बिल और सत्याग्रह

१० दिसम्बर १९१७ को भारत सरकार ने जस्टिस रौलट के सभापतित्व में क्रांतिकारी आंदोलन की जाँच के लिए एक कमेटी बैठाई। इस कमेटी ने, जिसे रौलट कमेटी कहते हैं, अपनी रिपोर्ट पेश की और उसमें क्रांतिकारियों की हलचल पर विस्तार से प्रकाश डाला। पहले कहा जा चुका है कि अफगानिस्तान की स्थिति ठीक नहीं थी और वहाँ क्रांतिकारियों की हलचलें चल रही थीं। अतः इन पर रोक लगाने के लिए कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में ऐसी सिफा-

रिशें कीं जिनके अनुसार किसी भी व्यक्ति को जब चाहें गिरफ़्तार किया जा सकता था, तलाशी ली जा सकती थी और जमानत मांगी जा सकती थी। मतलब यह कि यदि उसकी सिफारिशें मान ली जातीं तो व्यक्ति की स्वतंत्रता सरकार की दया पर निर्भर हो जाती। इस रिपोर्ट को देखकर चारों ओर हलचल मच गई। सरकार के सब लोगों को ऐसा लगने लगा कि यह बिल एक्ट बनकर ही रहेगा। लड़ाई समाप्त होने पर लोगों ने जो बड़ी-बड़ी आशाएं की थीं वे सब जैसे भंग होने लगीं।

लोगों में निराशा छाने लगी थी। कोई उपाय नहीं सूझता था। ऐसे समय गांधीजी सत्याग्रह का मन्त्र लेकर आगे आये। उन्होंने १ मार्च को यह घोषणा कर दी कि यदि यह बिल एक्ट बन गया तो वह सत्याग्रह शुरू कर देंगें। उन्होंने सरकार से भी प्रार्थना की कि यह एक्ट न बनने दे। लेकिन जब इतने सारे विरोध के बावजूद १८ मार्च को वह बिल पास हो ही गया तो उन्होंने एक प्रतिज्ञा-पत्र बनाया। उन्होंने लोगों से अपील की कि वे इस कानून का विरोध करने के लिए इस सत्याग्रह के प्रतिज्ञा-प्रत्र पर हस्ताक्षर करें। इस प्रतिज्ञा-पत्र में लिखा था : "चूंकि मैं इन बिलों का विरोधी हूँ और इनको अन्यायपूर्ण, वैयक्तिक स्वतन्त्रता के लिए घातक तथा मौलिक अधिकारों पर कुठाराघात करने वाला समझता हूं, इसलिए यदि ये बिल कानून बन गए तो मैं इन कानूनों को तब तक तोड़ूंगा जब तक ये रद्द न किये जांय, साथ ही प्रतिज्ञा करता हूं कि मैं सत्य और अहिंसा का पालन करूंगा।" उन्होंने सारे देश का दौरा प्रारंभ किया और लोगों को सत्याग्रह की शिक्षा दी। उन्होंने लोगों से कहा कि पश्चिमी सभ्यता से जो बुराइयां हमारे देश में आई हैं उनका परिहार करने के लिए हमें सत्याग्रह करना पड़ेगा। वह हमें आत्मानुशासन सिखायगा और विदेशी शासन की बुराइयों को दूर करेगा। सत्याग्रह के द्वारा हम साम्राज्यवाद के पशु-बल का मुकाबला आत्मशक्ति से करेंगें। इसके बिना हम सविनय-अवज्ञा-आंदोलन नहीं चला सकेंगे।

सरकार के रुख में कोई परिवर्तन न देखकर गांधीजी ने लड़ाई छेड़ दी। उन्होंने घोषणा की कि ३० मार्च के दिन समूचे देश में हड़ताल

रखें, जलूस निकालें, प्रार्थना करें और प्रतिज्ञा लें। बाद को यह तिथि बढ़ा कर ६ अप्रैल कर दी गई। गांधीजी चाहते थे कि यह कार्यक्रम शान्ति के साथ मनाया जाय लेकिन वैसा न हो सका। दिल्ली में सूचना न मिलने से ३० मार्च को ही जलूस निकाला गया। पुलिस ने जलूस पर गोली चला दी, दिल्ली-स्टेशन पर भी झगड़ा हो गया। कुछ व्यक्ति मारे गए और कुछ घायल हुए। अन्य स्थानों पर यह दिन ६ अप्रैल को मनाया गया। सभी जगह लोगों में बड़ा उत्साह था, लेकिन पंजाब में यह असन्तोष कुछ अधिक था। यह सब स्थिति देखकर डा० सत्यपाल और स्वामी श्रद्धानन्द ने गांधीजी को पंजाब बुलाया। वह ८ अप्रैल को पंजाब के लिए रवाना हुए लेकिन मार्ग में ही उनको यह हुक्म दिखाया गया कि वह पंजाब में प्रवेश न करें। गांधीजी ने यह हुक्म मानने से इन्कार कर दिया। इस पर सरकार ने उन्हें जबरदस्ती एक स्पेशल ट्रेन द्वारा बम्बई भेज दिया। सरकार के इस कार्य से लोगों में बड़ी उत्तेजना फैली और कलकत्ता, अहमदाबाद और बम्बई में भी अशान्ति फैल गई। वहां तोड़-फोड़ की घटनाएं घटीं और सरकार को उसे दबाने के लिए गोली चलानी पड़ी।

अगली कांग्रेस अमृतसर में होने वाली थी। पंजाब सामरिक जातियों का घर था। अतः सरकार इस बारे में सतर्क थी कि वहां आन्दोलन न फैलने पाय। १० अप्रैल के दिन अमृतसर के कांग्रेसी नेता डा० किचलू और डा० सत्यपाल को जिला मैजिस्ट्रेट ने अपने बंगले पर बुलाया और किसी अज्ञात स्थान को भेज दिया। बात-की-बात में यह खबर सारे शहर में फैल गई। भीड़ इकट्ठी हो गई और वह मैजिस्ट्रेट के बंगले की ओर उससे यह पूछने के लिए बढ़ी कि उनके नेताओं को कहां भेज दिया गया है। लेकिन फौज आ गई। उसने भीड़ को बीच में ही चौराहे पर रोक लिया और गोली चला दी। पुलिस की गोली से कुछ व्यक्ति मरे, कुछ घायल हुए। लोगों में बहुत उत्तेजना फैली। शहीदों का जलूस निकाला गया। रास्ते में नेशनल बैंक की इमारत में आग लगा दी गई और उसके गोरे मैनेजर को मार डाला गया। उस दिन कुल मिला कर पांच गोरों की हत्या की गई। उपद्रव की आग आस-पास के शहरों और ग्रामों में भी फैली। १२ अप्रैल

के दिन भीड़ ने कसूर रेलवे स्टेशन को बहुत नुक्सान पहुँचाया। उसने तेल के एक गोदाम में आग लगा दी और सिगनल तोड़ डाले। एक ट्रेन पर भी आक्रमण किया गया और दो सिपाहियों को मार डाला गया। एक पोस्ट आफिस लूट लिया गया और कचहरी को आग लगा दी गई। इसी प्रकार गुजरानवाला में भी एक ट्रेन रोक ली गई और दो पुलों को जला दिया गया। तारघर, डाकघर, स्टेशन, डाक-बंगला, कचहरी, गिर्जाघर आदि कई इमारतों को नुक्सान पहुँचाया गया।

पंजाब में मार्शल ला, जलियांवाला बाग का हत्याकाण्ड

पंजाब के गवर्नर-जरनल ओडायर ने तो मानो एक-साथ अनेक अत्याचारों को ही पंजाब पर बरसा दिया और लोगों के जीवन को नरक बना दिया। उन्होंने पंजाब में मार्शल ला लागू कर दिया। १३ अप्रैल को अमृतसर में सन्ध्या समय जलियांवाला बाग में सभा हुई। इस दिन वर्ष प्रतिप्रदा थी। बहुत से लोग जलियांवाला बाग में इकट्ठे हुए। यह बाग शहर के बीच में है। शहर के मकान ही इसकी चहार-दीवारी बनाये हुए हैं। इसका दरवाजा इतना संकड़ा है कि एक गाड़ी का निकलना भी कठिन है। जब लगभग २० हजार स्त्री-पुरुष और बच्चे एकत्र होगए तो सभा की कार्यवाही प्रारम्भ की गई। इसी समय जनरल डायर सेना की एक टुकड़ी के साथ, जिसमें १०० हिन्दुस्तानी और ५० गोरे सिपाही थे, घटनास्थल पर आये और लोगों को बिना चेतावनी दिये ही गोली चलाने की आज्ञा दे दी। उस छोटे से मार्ग में लोगों का भाग सकना असम्भव था और सेना उसी को लक्ष्यकर गोली चला रही थी। जब तक कारतूस समाप्त नहीं हुए गोली चलती रही। सेना का यह कार्य लोगों में आतंक फैलाने की दृष्टि से किया गया था। कई व्यक्ति मर गए और हजारों घायल हुए। बेचारे घायल वहीं पड़े कराहते रहे। उन्हें न तो डाक्टरी सहायता मिली, न कोई एक घूँट पानी ही पिला सका।

इतना बड़ा हत्याकाण्ड करके भी जनरल डायर को शांति नहीं मिली। उन्होंने लोगों को ऐसी-ऐसी सजाएं देना प्रारम्भ किया जिनकी कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। अमृतसर में बिजली का कनेक्शन काट दिया गया

और पानी भी बन्द कर दिया गया। जिन गली-मुहल्लों में अंग्रेजों की हत्याएं हुई थीं वहां से लोगों को पेट के बल रेंगकर जाने की आज्ञा निकाली गई। रेल के तीसरे दर्जे के टिकिट बन्दकर दिये गए। सारी साइकिलें जब्त करली गईं और जिन लोगों ने दूकानें बंद रखी थीं उन्हें दूकानें खोलने के लिए मजबूर किया गया। शहर में जगह-जगह लोगों को बेंत लगाने की टिकटी लगा दी गई, और कुछ जगह लोगों को नंगा करके बेंत लगाई गई। फौजी अदालत ने लोगों को मनमानी सजाएं दीं। जनरल डायर ने यह भी आज्ञा निकाली कि जब कोई अंग्रेज दिखाई दे तो हिन्दुस्तानी अपने वाहनों से उतर कर उसे सलाम करें। ये अत्याचार केवल अमृतसर तक ही सीमित नहीं थे। लाहौर, गुजरानवाला, कसूर तथा अन्य स्थानों पर भी ऐसे ही कार्यों द्वारा लोगों को आतंकित किया जा रहा था। कर्नल जॉन्सन, बोसवर्थ, स्मिथ और कर्नल ओब्रायन बड़े बर्बरतापूर्ण कार्य कर रहे थे। इन लोगों ने बम गिराये, मशीनगनें चलाईं तथा अन्य कई तरीकों से लोगों पर जुल्म किया। ५१ व्यक्तियों को फांसी लगा दी गई। पंजाब की खबरों पर कड़ा सैन्सर बैठा दिया गया और लोगों के आने-जाने पर भी नियन्त्रण लगा दिया गया। कई जिलों में मार्शल ला लागू कर दिया गया। जब देशबन्धु एंड्रयूज ने वहां जाने का प्रयत्न किया तो उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया और मालवीयजी को जाने से रोक दिया गया।

सत्याग्रह स्थगित

इस तरह हिंसात्मक काण्डों को देखकर गांधीजी परेशान हुए। उन्होंने १८ अप्रेल के दिन अपना सत्याग्रह आन्दोलन स्थगित कर दिया। १४ अप्रेल के दिन इस संबंध में अहमदाबाद की एक सभा में उन्होंने कहा था : "मैंने कई बार कहा है कि सत्याग्रह में हिंसा के लिए, लूटमार के लिए और अग्निकाण्ड के लिए कोई स्थान नहीं है, फिर भी सत्याग्रह के नाम पर हमने इमारतों में आग लगाई है, जबरदस्ती हथियार छीने हैं, पैसा लूटा है, रेलगाड़ियां रोकी हैं, टेलीग्राफ के तार काटे हैं, भोले-भाले लोगों की हत्या की है और दूकानों तथा मकानों को लूटा है। यदि ऐसे काम करने से मुझे जेल या फांसी की सजा से मुक्ति मिलती हो तो भी मैं उनसे मुक्त होना पसन्द नहीं

करूंगा।"

पंजाब के इस बड़े हत्याकाण्ड से चारों ओर रोष फैला। सरकार ने लार्ड हंटर की अध्यक्षता में इस काण्ड की जांच करने के लिए कमेटी बैठाई। इस कमेटी की रिपोर्ट सन् १९२० की २८ मई को प्रकाशित हुई। रिपोर्ट में यह स्वीकार किया गया कि जलियांवाला बाग में १६५० गोलियां चलाई गई थीं। उससे ३७९ व्यक्ति मरे और इससे तिगुने व्यक्ति घायल हुए। इस कमेटी के भारतीय सदस्यों ने अपनी राय अलग दी और उन्होंने जनरल डायर के कृत्यों की बड़ी भर्त्सना की। उन्होंने इस बात पर बहुत दुख प्रकट किया कि न तो फौज ने और न पुलिस ने ही घायलों को वहां से ले जाने या उनको डाक्टरी सहायता पहुंचाने का प्रयत्न किया। हंटर कमेटी के अंग्रेज सदस्यों ने डायर के कारनामों को गंभीर भूल कहकर उस पर पर्दा डालने का प्रयत्न किया। उन्होंने कहा कि ऐसा करके वह समूचे पंजाब पर एक नैतिक असर डालना चाहते थे ताकि विद्रोह की भावना दबाई जा सके। भारत में डायर के कृत्यों के प्रति बड़ा रोष था लेकिन अंग्रेजी पत्र उसे भारत में अंग्रेजी राज्य बचाने वाला कहकर उसकी प्रशंसा के पुल बांध रहे थे। उन्होंने उसका स्मारक बनाने की योजना बनाई और उसके लिए चन्दा इकट्ठा किया। परिणाम यह हुआ कि दोनों ओर अविश्वास की भावना बढ़ने लगी।

हंटर कमेटी की रिपोर्ट

जलियांवाला बाग के हत्याकाण्ड के कुछ दिनों बाद 'सेव्रस का संधि पत्र' प्रकाशित हुआ। यह संधि-पत्र तो क्या था सीधे-सीधे तुर्की से बदला लिया गया था। इसके अनुसार अरब, फिलस्तीन, स्याम, ईराक अंग्रेजों और फ्रान्सीसियों में बंट गए। मुसलमानों की धर्म-भूमि के खण्ड-खण्ड हो गए। उसका बहुत बड़ा भाग अमुसलमानों के हाथ में चला गया। इस धर्म-भूमि का शासक खलीफा कहा जाता है। प्रत्येक मुसलमान का यह धार्मिक कर्तव्य होता है कि वह खलीफा की मदद करे। इस धर्म विरोधी कार्य से मुसलमानों में बड़ा जोश फैला। इन्हीं सब बातों ने खिलाफत आंदोलन को जन्म दिया।

खिलाफत आन्दोलन

खलीफा के अधिकृत क्षेत्र को पूर्ववत बना रहने देना ही इस आंदोलन का लक्ष्य था !

ऊपर कहा जा चुका है कि युद्ध के दिनों में मुस्लिम लीग कांग्रेसके नज़दीक आगई थी। अब इस आन्दोलन के कारण वह पूरी तरह राष्ट्रीयता के प्रभाव में आगई। सन् १९१८ में दिल्ली में लीग का जो अधिवेशन हुआ उसमें उलेमाओं ने खिलाफत आन्दोलन पर बड़े जोशीले भाषण दिये। इस अधिवेशन में लीग ने भी भारत के लिए स्वशासन की मांग की। इन्हीं दिनों मौलाना मोहम्मदउल हसन ने जमीअत-उल-उलेमा-ए-हिन्द की स्थापना की। इस संस्था ने भी मुसलमानों को राष्ट्रीयता की ओर आकर्षित करने का काफी प्रयत्न किया।

अंग्रेज सरकार के विरुद्ध दृढ़ मोर्चा बनाने के लिए हिन्दू-मुसलमानों की एकता बड़ी आवश्यक थी। खिलाफत आन्दोलन ने दोनों को एकता के सूत्र में बांध दिया। गांधीजी ने इस अवसर पर मुसलमानों के प्रति बड़ी सहानुभूति दिखाई और उन्होंने मुसलमानों का यह प्रश्न सारे भारत का प्रश्न बना दिया।

सन् १९१९ के नवम्बर महीने में हकीम अजमलखाँ, आसफअली तथा कुछ अन्य मुसलमान नेताओं ने दोनों जातियों के बड़े-बड़े नेताओं का एक सम्मेलन किया। इस सम्मेलन में गांधीजी ने खिलाफत आन्दोलन का पक्ष लिया और मुसलमान नेताओं ने सविनय-अवज्ञा-आन्दोलन का पूरी तरह समर्थन करने का वादा किया। सम्मेलन ने दोनों जाति के लोगों से यह भी कहा कि वे स्वदेशी की प्रतिज्ञा लें। युद्ध विरोधी प्रचार करने के कारण मौलाना मुहम्मदअली और मौलाना शौकतअली अभी नज़रबन्द थे। जब वे जेल से छूटे तो वे भी कांग्रेस में मिल गए। उनके आने से राष्ट्रीय आन्दोलन को बड़ी गति मिली। वे खिलाफत आन्दोलन के नेता बन गए। मार्च १९२० में मौलाना मुहम्मदअली इसी सिलसिले में एक डेपूटेशन लेकर इग्लैंड गये लेकिन वह खाली हाथ लौटे। इस असफलता से मुसलमानों को बड़ी निराशा हुई और उनकी अंग्रेज विरोधी भावना अधिक प्रबल हो गई।

धार्मिक मुसलमानों को खिलाफत के सम्बन्ध में सरकार का कड़ा रुख

देखकर यहां तक निराशा हुई कि वह देश छोड़कर जाने का विचार करने लगे। उन्हें लगा कि ब्रिटिश सरकार के इस विरोधी रुख को देखते हुए अब भारत में रहना धार्मिक दृष्टि से ठीक नहीं है। यह आन्दोलन सिन्ध में प्रारंभ हुआ और धीरे-धीरे सीमाप्रान्त तक फैल गया। लगभग १८००० मुसलमान अफगानिस्तान की ओर चल पड़े। अफगानिस्तान सरकार ने उनके प्रवेश पर पाबन्दी लगा दी। उसने कुछ लोगों को गिरफ्तार भी कर लिया और उनको कई तरह के कष्ट दिये। इस काम में मुसलमानों को धन-जन की बड़ी क्षति उठानी पड़ी। वे निराश होकर वहां से लौट आये। धर्म-भाई होने के नाते वे अन्य मुस्लिम देशों से जो अपेक्षाएं रखते थे, वे समाप्त हो गईं। क्या ही अच्छा होता यदि मुसलमान भाई इस घटना से सबक सीख कर आगे आने वाले समय में उससे लाभ उठाते !

मुहाजिरीन

: १५ :

असहयोग आन्दोलन

सन् १९१९ में २३ दिसम्बर को शासन-सुधार-सम्बंधी एक्ट पास हुआ। युद्ध के दिनों में सरकार ने जो लम्बे-चौड़े वादे किये थे और बदले में भारतीय जनता ने जो धन-जन की सहायता की थी, उसीका पुरस्कार यह शासन-सुधार था। इस शासन-सुधार के द्वारा केन्द्रीय और प्रांतीय धारा-सभाओं के सदस्यों की संख्या बढ़ा दी गई और चुने हुए सदस्यों का धारा-सभा में बहुमत हो गया। सदस्यों के अधिकारों में भी वृद्धि की गई। लेकिन ये धारा-सभाएं सर्वतन्त्र नहीं थीं। इस शासन-सुधार के द्वारा द्वैध-शासन (डायार्की) का सूत्रपात हुआ। स्थानीय स्वायत्त-शासन, शिक्षा, स्वास्थ चुने हुए मंत्रियों के हाथ में रहने वाले थे तथा राजस्व, पुलिस, कानून पहले की ही तरह सरकार के हाथों में। चुने हुए मंत्रियों के विभाग एक तो महत्वपूर्ण नहीं थे दूसरे उन्हें कोई भी नई बात करने के लिए

सन् १९१९ का शासन-सुधार

राजस्व-विभाग का मुंह ताकना पड़ता था। ये सुधार प्रांतीय-व्यवस्थापिका के सम्बंध में थे। केन्द्रीय-व्यवस्थापिका तो पूरी तरह सरकार के हाथ में थी।

इस शासन-सुधार के द्वारा भारत में केवल ५३ लाख व्यक्तियों को मताधिकार प्राप्त हुआ। कौन्सिल ऑफ स्टेट के लिए तो यह संख्या केवल १८ हजार ही थी। सदस्यों को बजट की आलोचना करने का अधिकार मिल गया था। लेकिन उन्हें सैनिक खर्च, सिविल-सर्विस के वेतन-भत्ते आदि पर वोट देने का अधिकार नहीं दिया गया। इस शासन-सुधार के द्वारा साम्प्रदायिक चुनाव का सिद्धांत मान लिया गया। और पंजाब में सिक्खों को तथा समूचे देश में ईसाइयों को पृथक निर्वाचन का अधिकार दिया गया। इस शासन-सुधार को कांग्रेस ने 'असन्तोष-जनक, अपर्याप्त और निराशाजनक कहा।' कांग्रेस और लीग दोनों को ही ये सुधार अच्छे नहीं लगे क्योंकि उनके द्वारा लखनऊ में बनाई गई कांग्रेस-लीग योजना को नहीं माना गया था।

गांधीजी की विचार-धारा से नेताओं का मतभेद

महायुद्ध समाप्त हो चुका था और देश की राजनैतिक स्थिति बदल गई थी। अब परिस्थिति के अनुकूल कदम उठाने की जरूरत थी। लेकिन कांग्रेस वैधानिक मार्ग पर चल रही थी। ज्यादा-से-ज्यादा हुआ तो वह निर्बल व्यक्ति की तरह अपना गुस्सा प्रकट करके चुप हो जाती थी। किन्तु अब समय की यह मांग थी कि कांग्रेस के नेता कुछ निश्चय करें और उसे पूरा करने में अपनी पूरी शक्ति लगा दें। जनता भी अब काफी जाग्रत हो गई थी और वह जन-आंदोलन के लिए तैयार थी। लेकिन गांधीजी के अलावा किसी अन्य व्यक्ति के पास भविष्य के कार्यक्रम की कोई निश्चित योजना नहीं थी। जब गांधीजी ने असहयोग की बात लोगों के सामने रखी तो वह चुपचाप मंजूर नहीं कर ली गई। कुछ लोगों ने उसका बड़ा विरोध किया। श्री चान्दावरकर का मत था कि उससे अराजकता फैलेगी। श्री शंकरन नायर उसे स्वप्नदर्शी-व्यक्ति का हवाई-महल बताकर अव्यावहारिक कहते थे। उदारदल तो असहयोग के विचार के ही विरोध में था। लोक-

मान्य तिलक का कहना था कि साधुता से साम्राज्यवाद का मुकाबला नहीं किया जा सकता। लेकिन सरकार का विरोध भी वैधानिक ढंग से ही होना चाहिए। श्रीमती एनी बीसेन्ट भी असहयोग के सिद्धांत के विरुद्ध थीं। लेकिन जैसे-जैसे समय बीतने लगा गांधीजी का जादू लोगों पर चलने लगा।

अमृतसर-कांग्रेस

सन् १९१९ के दिसम्बर मास में अमृतसर-कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। सभापति थे पं० मोतीलाल नेहरू। शासन-सुधार इस कांग्रेस का मुख्य प्रश्न था। मालवीयजी और गांधीजी का मत था कि सरकार जितना सहयोग करे हमें भी उतना ही सहयोग करना चाहिए लेकिन देशबन्धु दास सारी योजना को ही नामंजूर कर देने के पक्ष में थे। उन्होंने जो मुख्य प्रस्ताव रखा वह इस प्रकार था :

"यह कांग्रेस अपनी पिछले वर्ष की योजया को दोहराती है कि भारतवर्ष पूर्ण उत्तरदायित्वपूर्ण शासन के योग्य है और इसके विरुद्ध जो बातें समझी या कही जाती हैं उनको यह कांग्रेस अस्वीकार करती है।

"वैध-सुधारों के सम्बन्ध में दिल्ली-कांग्रेस द्वारा पास किये गए प्रस्तावों पर ही कांग्रेस दृढ़ है और उसकी राय है कि शासन-सुधार अपूर्ण, असन्तोषजनक और निराशापूर्ण है।

"आगे यह कांग्रेस अनुरोध करती है कि आत्म-निर्णय के सिद्धान्त के अनुसार भारत में पूर्ण उत्तरदायी शासन कायम करने के लिए पार्लामेंट को शीघ्र कार्यवाही करनी चाहिए।"

इस प्रस्ताव पर गांधीजी ने एक संशोधन पेश किया। उन्होंने कहा कि निराशापूर्ण शब्द हटा दिया जाय और अन्त में एक टुकड़ा जोड़ दिया जाय जिसका आशय यह था कि जब तक ऐसा न हो वे सरकार के साथ एक ध्येय के लिए मिलकर काम करेंगे। अन्त में यह प्रस्ताव इस रूप में पास हुआ : "यह कांग्रेस विश्वास करती है कि जब तक वह इस प्रकार की कार्यवाही नहीं करती तबतक, जहाँ तक सम्भव हो, लोग सुधारों को इस प्रकार काम में लायंगे कि भारत में शीघ्र पूर्ण उत्तरदायी शासन कायम हो सके। सुधारों के सम्बन्ध में माननीय मांटेग्यू साहब ने जो मेहनत की है

उसके लिए यह कांग्रेस उन्हें धन्यवाद देती है।"

यह प्रस्ताव गांधीजी की विजय थी। उनके विचारों का लोगों पर बड़ा असर पड़ा। पंजाब के हत्याकाण्ड के सम्बन्ध में भी इस अधिवेशन में एक प्रस्ताव पास हुआ जिस पर गांधीजी ने बड़ा ही प्रभावशाली भाषण दिया। उन्होंने कहा: "पागलपन का जवाब पागलपन से मत दो। बल्कि पागलपन के मुकाबले में समझदारी से काम लो। फिर आप देखेंगे कि सारी बाजी आपके हाथ में आ गई है।" इस प्रकार हम देखते हैं कि गाधीजी का असर बढ़ता जा रहा था।

मुस्लिम लीग, जमीयत-उल-उलेमा और खिलाफत संगठन ने भी अपने अधिवेशनों में समाज-सुधार की आलोचना की और जलियांवाला बाग के हत्याकाण्ड पर रोष प्रकट किया। इस बीच पहली अगस्त को लोकमान्य तिलक चल बसे। उनके उठ जाने से देश की बड़ी क्षति हुई।

कांग्रेस का विशेष अधिवेशन

असहयोग के प्रश्न पर सोच-विचार करने के लिए लाला लाजपतराय की अध्यक्षता में सितम्बर १९२० में कांग्रेस का विशेष अधिवेशन हुआ। सारे प्रांतों से असहयोग के सम्बन्ध में राय पूछी गई थी अतः उनकी राय आगई थी और उसी पर विचार किया जाने वाला था। इस अधिवेशन ने पूरी तरह राजनैतिक मोर्चा बदल दिया। गांधीजी का असहयोग आंदोलन संबंधी क्रांतिकारी प्रस्ताव स्वीकार कर लिया गया। असहयोग का प्रस्ताव रखते हुए गांधीजी ने बड़ा प्रभावशाली भाषण दिया। उन्होंने कहा कि ब्रिटिश सरकार शैतान की तरह है। उससे किसी प्रकार के सहयोग की आशा नहीं की जा सकती। भारत की समस्या का एकमात्र हल स्वराज्य ही है। जब तक स्वराज्य नहीं दिया जायगा पंजाब के उपद्रवों और खिलाफत की पुनरावृत्ति होती रहेगी। उन्होंने कहा कि अब कांग्रेस को प्रगतिशील अहिंसक असहयोग की नीति अपना लेनी चाहिए। अब शासन-सुधार के संबंध में भी उनके विचार बदल गए थे। अतः उन्होंने कहा: "जब तक सरकार इन हत्याकाण्डों के लिए पश्चाताप प्रकट नहीं करेगी तब तक उसके खून से सने हुए हाथों से दिया हुआ कोई उपहार हम स्वीकार नहीं करेंगे। जब-तक

सरकार पश्चाताप नहीं करती तब तक हमें कैसे विश्वास हो सकता है कि शासन-सुधार के द्वारा दी हुई इन कौंसिलों से स्वराज्य मिल सकेगा।" उन्होंने स्वराज्य शब्द की व्याख्या करते हुए कहा : "स्वराज्य से हमारा मतलब उस स्थिति से है जिसमें हम अंग्रेजों की उपस्थिति के बिना अपना स्वतंत्र अस्तित्व कायम रख सकें। अगर वह साझेदारी बने तो वैसा उसकी स्वेच्छा से होना चाहिए।"

उनके प्रस्ताव का पंडित मदनमोहन मालवीय, देशबन्धु चितरञ्जन दास, श्रीमती एनी बीसेन्ट, मुहम्मदअली जिन्ना आदि बड़े-बड़े नेताओं ने विरोध किया। लालाजी इस सम्बन्ध में असमंजस में थे। यद्यपि वह असहयोग के पक्ष में थे तथापि वकीलों द्वारा अदालतों और विद्यार्थियों द्वारा स्कूल-कालिजों का बहिष्कार उन्हें पसन्द नहीं था। पं० मोतीलाल नेहरू ने प्रस्ताव का जोरदार समर्थन किया। जब प्रस्ताव पर मत लिये गए तो १८५५ के विरुद्ध २७२८ मतों से प्रस्ताव पास होगया।

गांधीजी का दौरा

कलकत्ता कांग्रेस के बाद गांधीजी ने सारे देश का दौरा किया और जगह-जगह उसके सम्बन्ध में प्रचार और संगठन किया। उनके इस कार्य से आन्दोलन को बड़ी लोकप्रियता प्राप्त होने लगी। लोगों में फैली हुई निराशा और शिथिलता गायब होनी लगी और जैसे देश में एक नवीन चेतना का संचार हो गया। उन्होंने लोगों को लड़ाई का यह नया तरीका समझाया और कहा कि अब सरकार से डरने की कोई आवश्यकता नहीं है। उन्होंने जगह-जगह हिन्दू-मुसलमानों से कहा कि उनको अंग्रेजों के खिलाफ एक संयुक्त मोर्चा बनाकर यह बता देना चाहिए कि भारतवासियों में आत्म-सम्मान की रक्षा करने की योग्यता है। उन्होंने शासन-सुधार की भी जगह-जगह निन्दा की और कहा कि सरकार इसमें उलझा कर हमें स्वराज्य से दूर रखना चाहती है। अतः हमें सरकार से न तो किसी प्रकार का सहयोग करना चाहिए और न उसके द्वारा दिये हुए किसी उपहार को ही स्वीकार करना चाहिए। गांधीजी के इस दौरे ने हिन्दू-मुसलमानों में एकता की भावना पैदा करने और असहयोग के तरीके को समझने में बड़ी मदद की। धार्मिक उत्सवों के

समय कई जगह हिन्दू-मुस्लिम एकता के बड़े सुन्दर दृश्य दिखाई दिये। दिल्ली में बकरीद के मौके पर भी गोहत्या नहीं की गई और जहग-जगह बन्देमातरम और अल्लाहो-अकबर के नारे साथ-साथ सुनाई देने लगे।

नागपुर कांग्रेस

सन् १९२० में नागपुर में श्री विजयराघवाचार्य के सभापतित्व में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन हुआ। श्री जमनालाल बजाज स्वागताध्यक्ष थे। इस बार १० हजार प्रतिनिधि उपस्थित थे। यह अधिवेशन कई दृष्टियों से बड़ा महत्वपूर्ण था। गांधीजी का असहयोग का प्रस्ताव इस अधिवेशन में पास हो गया। देशबन्धु चितरंजन दास इस बार बंगाल से २५० प्रतिनिधि अपने साथ लेकर आये थे लेकिन उन्होंने गांधीजी का कोई विरोध नहीं किया। श्री विपिनचन्द्रपाल कांग्रेस छोड़ कर उदार दल में सम्मिलित हो गए। इसी अधिवेशन में गांधीजी ने कांग्रेस का नया विधान प्रस्तुत किया, जिसमें उसका लक्ष्य स्वराज्य बताया गया था। तिलक स्वराज्य फण्ड के लिए एक करोड़ रुपया इकट्ठा करने का निश्चय भी इसी अधिवेशन में हुआ। जनता ने इस निश्चय का सर्वत्र स्वागत किया। सेठ जमनालाल बजाज ने इस फ़ण्ड में १ लाख रुपया दिया और कांग्रेस के सेक्रेटरी श्री मोतीलाल नेहरू ने थोड़े ही समय के बाद घोषणा की कि एक करोड़ रुपया इकट्ठा हो गया है। नागपुर कांग्रेस का भारतीय नव-जागरण के इतिहास में बड़ा महत्वपूर्व स्थान है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे नागपुर में नई कांग्रेस का उदय हुआ हो। कांग्रेस में नए अनुशासन, नए संगठन और नई शक्ति का दर्शन हो रहा था। यह स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगा कि वह नरम दल के पंजे से पूरी तरह मुक्त होकर गरम विचार के नेताओं के हाथ में आ गई है।

असहयोग आन्दोलन का कार्यक्रम

असहयोग आन्दोलन का प्रारम्भ तो १ अगस्त सन् १९२० को ही हो गया था। उस दिन गांधीजी ने वाइसराय को पत्र लिखकर उनके सामने सुझाव रखा कि वह जनता के प्रतिनिधियों को बुलाकर पंजाब के हत्याकाण्ड तथा खिलाफत के सम्बन्ध में विचार-विमर्ष करें और ऐसा मार्ग निकालें जिससे जनता का असन्तोष मिट जाय। लेकिन वाइसराय ने इस

पर कोई ध्यान नहीं दिया। अतः गांधीजी ने असहयोग प्रारंभ कर दिया। अगस्त मास में केन्द्रीय धारा-सभा का अधिवेशन हो रहा था। कुछ सदस्यों ने इस समय उससे त्यागपत्र दे दिया। उसका पहला प्रभाव यह हुआ कि युवराज ने अपनी भारत-यात्रा अनिश्चित काल के लिए स्थगित कर दी। कलकत्ता के विशेष अधिवेशन में असहयोग आन्दोलन के लिए निम्नलिखित बातों पर जोर दिया गया था :

१. सब उपाधियां, आनरेरी पद तथा स्थानीय स्वायत्त शासन की संस्थाओं में नामजद किये हुए सदस्य त्यागपत्र दे दें।

२. सरकार के दरबारों तथा राजभक्ति प्रकट करने वाली सभाओं में भाग न लिया जाय।

३. विद्यार्थियों को धीरे-धीरे सरकारी तथा सरकार की सहायता प्राप्त शिक्षा-संस्थाओं से हटा लिया जाय। राष्ट्रीय विद्यालय खोले जायं और उनमें शिक्षार्थी भर्ती किये जायं।

४. वकील तथा जनता धीरे-धीरे ब्रिटिश अदालतों का बहिष्कार कर दें। और आपसी झगड़ों को निबटाने के लिए अपनी अदालतें कायम करें।

५. फौज के सैनिक, क्लर्क और मजदूर भर्ती होकर मेसोपटामिया में जाने से इन्कार कर दें।

६. नए शासन सुधार के अनुसार जो कौंसिलें बनी हैं उनमें न तो मतदाता किसी को मत देकर भेजें न कोई उनके लिए खड़ा हो।

७. स्वदेशी माल का प्रचार और विदेशी माल का बहिष्कार किया जाय।

आन्दोलन की प्रगति

नागपुर कांग्रेस के बाद गांधीजी ने अली-बन्धुओं के साथ सारे देश का दौरा प्रारंभ किया। उन्होंने जगह-जगह असहयोग आंदोलन का प्रचार और संगठन किया। कुछ स्थानों पर अली-बन्धुओं ने बहुत गरम भाषण दिये। लेकिन उन्होंने हमेशा हिंसा के मार्ग का विरोध किया। उन्होंने स्कूलों, विदेशी माल, कौन्सिलों और सरकारी संस्थाओं के बहिष्कार का चतुःसूत्री कार्यक्रम लोगों के सामने

रखा। सन् १९२१ के फरवरी मास में ड्यूक ऑफ कनाट भारत आये। चारों ओर उनके स्वागत का सफल बहिष्कार संगठित किया गया और जगह-जगह हड़तालें की गईं। सन् १९२१ के जुलाई मास में गांधीजी ने बड़े ज़ोर-शोर से विदेशी कपड़ों के बहिष्कार का कार्यक्रम प्रारंभ किया। इधर खिलाफत कांफ्रेंस ने अंग्रेजी सरकार की नौकरी को 'हराम' कहकर उसका बहिष्कार करने का नारा बुलन्द किया। इस पर अली-बन्धु गिरफ्तार कर लिये गए और उन्हें दो-दो वर्ष की सजा दे दी गई। इस पर गांधीजी ने किसानों से कहा कि वे सरकार को जमीन का लगान देना बंद कर दें। इधर शीतकाल में प्रिंस ऑफ वेल्स भारत आने वाले थे। अतः उनके बहिष्कार की तैयारियां की जाने लगीं। १७ नवम्बर के दिन वह बम्बई आये। इस दिन बम्बई में बड़े जोर का सरकार विरोधी दंगा हुआ। यह दंगा तीन-चार दिन तक होता रहा। गांधीजी और सरोजिनी नायडू भीड़ में घुसकर लोगों को समझाते रहे पर दंगा शांत न हुआ। गांधीजी को इस हिंसा-काण्ड से बड़ा आघात पहुँचा और उन्होंने इसके लिए ७ दिन का उपवास किया। सरकार पूरी तरह आंदोलन को कुचल देना चाहती थी। उसने स्वयंसेवक संगठन को गैर-कानूनी घोषित कर दिया लेकिन लोग एक बड़ी संख्या में उसमें भर्त्ती होते रहे। पं० मोतीलाल नेहरू, मौलाना आजाद, सुभाषचन्द्र बोस तथा देशबंधुदास जैसे बड़े नेता और अनेक स्वयंसेवक पकड़ लिये गए। लेकिन जहाँ-जहाँ युवराज गये वहाँ-वहाँ हड़तालें हुईं। युवराज ने जब यह सब देखा तो बोले कि वह परेशान हो रहे हैं। सर तेज-बहादुर सप्रू इन दिनों भारत सरकार के कानून मंत्री थे। उन्होंने वाइसराय से कहा कि वह भारतीय नेताओं और सरकारी प्रतिनिधियों की कांफ्रेंस करें लेकिन गांधीजी ने इस सुझाव को स्वीकार नहीं किया।

आंदोलन जोर-शोर से चल रहा था। अदालतों का बहिष्कार सफल होता जा रहा था। सेठ जमुनालालजी बजाज ने असहयोगी वकीलों की मदद के लिए एक लाख रुपया दिया। जगह-जगह विदेशी वस्त्र और शराब का बहिष्कार किया जा रहा था तथा स्कूल-कालेजों का बहिष्कार भी चालू था। जगह-जगह राष्ट्रीय विद्यालय स्थापित हो रहे थे, जिनमें विद्यार्थी

भर्ती हो रहे थे। ग्रामों में ऐसे आश्रमों की स्थापना हो रही थी जहाँ लोगों को कताई-बुनाई सिखाई जा रही थी। गांधीजी ने कहा अगर तिलक स्वराज्य फंड में एक करोड़ रुपया जमा हो जाय और सारे भारत में एक लाख चर्खे चलने लगें तो एक वर्ष में स्वराज्य मिल जायगा। उनके इस कथन से आंदोलन को बड़ी गति मिली, आसाम के चायबागान के कुलियों का विद्रोह, आसाम-बंगाल रेलवे की हड़ताल तथा स्टीमर कम्पनी की हड़ताल ने आंदोलन की शक्ति में उत्तरोत्तर वृद्धि की। गांधीजी का प्रभाव बढ़ता जा रहा था। क्रांतिकारी हलचल बिलकुल कम हो गई थी। क्रांतिकारियों ने भी गांधीजी का नेतृत्व स्वीकार कर लिया था।

अहमदाबाद कांग्रेस

इस समय जबकि आंदोलन जोर-शोर पर था, सन् १९२१ के दिसम्बर में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। देशबन्धुदास सभापति निर्वाचित हुए थे, लेकिन उनके जेल में होने के कारण हकीम अजमलखां के सभापतित्व में अधिवेशन की कार्यवाही हुई। बड़े-बड़े नेताओं सहित लगभग ३०००० व्यक्ति इस समय जेल में थे। गांधीजी अभी बाहर थे। सरकार डरती थी कि गांधीजी को गिरफ्तार करने से कहीं स्थिति बिगड़ न जाय। गांधीजी ने हिंसात्मक कार्यवाहियों की निन्दा की। उन्होंने कहा कि सरकार की ज्यादतियों का मुकाबला करने के लिए हमें व्यक्तिगत और सामूहिक सविनय-अवज्ञा-आंदोलन प्रारंभ करना चाहिए। उन्होंने नवयुवकों से कहा कि उन्हें स्वयं-सेवक दलों में भर्ती होना चाहिए। ऐसा लगता था कि गांधीजी अब ताकत के साथ सविनय-अवज्ञा-आंदोलन प्रारम्भ करने वाले हैं। गांधीजी आंदोलन के सर्वाधिकारी डिक्टेटर बना दिये गए और आंदोलन के सारे सूत्र उनके हाथ में दे दिये गए।

चौराचौरी-हत्याकांड और आंदोलन का अन्त

१ फरवरी १९२२ को गांधीजी ने वाइसराय को एक पत्र लिखा, जिसमें अधिकारियों के जुल्मों का कड़ा विरोध किया गया। उन्होंने कहा कि यदि सात दिन में अधिकारियों का हृदय-परिवर्तन नहीं हुआ तो उन्हें सविनय-अवज्ञा-आंदोलन प्रारंभ करना पड़ेगा। लेकिन यह सात दिन की

अवधि समाप्त ही नहीं होने पाई कि ४ फरवरी को ३००० व्यक्तियों की एक उत्तेजित भीड़ ने चौराचौरी में पुलिस वालों पर आक्रमण कर दिया। उन्होंने उन्हें खदेड़कर थानेमें बन्द कर दिया। बादमें थाने में आग लगा दी गई। २२ पुलिस वाले जल कर मर गए। इस घटना से गांधीजी को बड़ी चोट लगी। १२ फरवरी को कार्य-समिति की बैठक हुई। इसमें गांधीजी ने असहयोग स्थगित करने का निश्चय कर लिया। उन्होंने आदेश दिया कि अब ऐसा कोई कार्यक्रम न चलाया जाय जिसमें गिरफ्तारी की गुंजाइश हो। उन्होंने कहा कि अब देशभक्तों को रचनात्मक-कार्य में लग जाना चाहिये।

गांधीजी की गिरफ्तारी

सरकार ने गांधीजी पर प्रहार करने का यह उपयुक्त अवसर देखा। जब सेना पीछे हटने लगती है तब दुश्मन जोर से आक्रमण कर देता है। सरकार ने देखा कि अब गांधीजी को गिरफ्तार करने में कोई खतरा नहीं है। अतः १३ मार्च के दिन उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। उन्हें राजद्रोह के जुर्म में सेशन सिपुर्द किया गया। यह ऐतिहासिक मुकदमा १८ मार्च को अहमदाबाद में प्रारंभ हुआ। श्रीमती सरोजिनी नायडू ने लिखा है: "जिस समय गांधीजी की कृश, शांत और अजेय देह ने अपने भक्त, शिष्य और सहबंदी शंकरलाल बैंकर के साथ अदालत में प्रवेश किया तो कानून की निगाह में इस कैदी और अपराधी के सम्मान के लिए सब एक साथ उठ खड़े हुए।" उन पर 'यंग इंडिया' में प्रकाशित तीन लेखों के संबंध में मुकदमा चला और छः वर्ष की सजा दी गई। गांधीजी ने सारे आंदोलन, विशेषकर चौरा-चौरी की जिम्मेदारी अपने ऊपर ले ली।

आंदोलन को स्थगित करने कर प्रभाव

आंदोलन को एकदम स्थगित कर देने से सभी कांग्रेसियों को बड़ी बेचैनी हुई। देशबंधुदास, मोतीलाल नेहरू तथा लाला लाजपतराय जेल में थे। उन्होंने जेल से ही गांधीजी को पत्र लिखकर इसका विरोध किया। पं मोतीलाल नेहरू ने लिखा था: "यदि कन्या-कुमारी के एक गांव ने अहिंसा का पालन नहीं किया तो उसका दण्ड हिमालय के पास के

एक गांव को क्यों मिलना चाहिए ?" सुभाषचंद्र बोस अलीपुर जेल में देशबंधु के साथ ही थे। उन्होंने लिखा : "ऐसे समय में जब कि जनता का जोश सर्वोच्च बिंदु पर पहुँच गया था, पीछे लौटने का नारा राष्ट्रीय विपत्ति से कुछ कम न था। महात्माजी के सभी शिष्य इससे क्षुब्ध हुए। मैं उन दिनों देशबंधु के साथ जेल में था, दुख से उनका बुरा हाल हुआ।" पं जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है : "उस समय जब कि हमें अपनी स्थिति सुदृढ़ होती हुई दिखाई दे रही थी और प्रत्येक मोर्चे पर हम आगे बढ़ रहे थे लड़ाई के बंद होने के समाचार से हमें बड़ा गुस्सा आया।" तथापि पं नेहरू स्वीकार करते हैं कि आंदोलन को स्थगित करने का एकमात्र कारण चौरा-चौरी की घटना नहीं थी। उस समय यद्यपि ऊपर से आंदोलन जोर-शोर पर दिखाई देता था तथापि अंदर-ही-अंदर उसकी शक्ति कम होती जा रही थी। नेताओं के जेल में चले जाने से आंदोलन का नेतृत्व ठीक तरह नहीं हो रहा था तथा संगठन और अनुशासन ढीले पड़ रहे थे। सरकार तो दमन पर तुली ही हुई थी अतः यदि आंदोलन शुरू रहता तो संभव था अन्यान्य भी ऐसे ही काण्ड होते। मालवीयजी आंदोलन में सम्मिलित नहीं हुए थे। उनका मत था कि समझौते के लिए वाइसराय के प्रयत्न को ठुकरा देना गांधीजी की जबरदस्त भूल थी। वाइसराय प्रिंस आफ वेल्स के स्वागत के लिए अच्छा वातावरण बनाना चाहते थे। यदि उनकी इच्छानुसार आंदोलन वापिस ले लिया जाता और स्वागत का बहिष्कार न किया जाता तो सरकार कांग्रेस-विरोधी कार्यवाही वापिस ले लेती और जो लोग जेल में थे उन्हें मुक्त कर देती।

कुछ भी हो, आंदोलन इस दृष्टि से बड़ा सफल रहा कि पहली बार जनता को आंदोलन के लिए निमंत्रित किया गया और जनता उत्साह के साथ मैदान में आगई। आंदोलन के सिलसिले में जो सभाएं और सम्मेलन जगह-जगह पर हुए उन्होंने जनसाधारण में काफी राजनैतिक चेतना का संचार किया।

: १६ :

स्वराज्य-दल

इस समय कांग्रेस के आन्दोलन का सूत्र संचालन करने वाले गांधीजी जेल में थे। अतः जनता के सामने कोई कार्य-क्रम नहीं था। पिछले दिनों जो हिन्दू-मुस्लिम एकता चारों ओर दिखाई दे रही थी अब वह धीरे-धीरे समाप्त हो रही थी। बात यह हुई कि कमालपाशा ने तुर्की की स्वतन्त्रता के लिए जो लड़ाई छेड़ रक्खी थी वह अब सफल हो गई और सन् १९२३ के जुलाई मास में तुर्की एक स्वतन्त्र राष्ट्र बन गया। अब वह विदेशी प्रभाव से मुक्त था। तुर्की के सुलतान भाग गए और तुर्की राष्ट्र गणतान्त्रिक हो गया। अतः अब मुसलमानों की धर्म-भूमि पर विदेशी अधिकार की बात नहीं रही थी और खिलाफत का प्रश्न समाप्त हो गया। इसका परिणाम यह हुआ कि मुसलमानोंका सारा जोश ठंडा पड़ गया। वह अंग्रेजोंके इस बहकावे में आने लगे कि हिन्दू स्वराज्य की मांग अपने लिए कर रहे हैं। मुसलमानों को उनकी चाल में नहीं आना चाहिए। खिंचाव बढ़ता गया। यहां तक कि मौलाना मुहम्मदअली ने, जो खिलाफत आन्दोलन के समय एक बहुत बड़े नेता माने जाने लगे थे, मुस्लिम लीग के अलीगढ़ अधिवेशन में गांधीजी के साथ किये हुए समझौते को भंग कर दिया। श्री मुहम्मदअली जिन्ना और सर अब्दुर्रहीम ने भी अपना रुख बदल दिया। परिणाम यह हुआ कि सन् १९२३ से लेकर सन् १९२७ तक सारे भारत में जगह-जगह हिन्दू-मुस्लिम दंगे होते रहे। इधर स्वामी श्रद्धानन्द ने शुद्धि आन्दोलन प्रारंभ किया। उन्होंने धर्म-परिवर्तन के द्वारा मुसलमान बनने वाले लोगों में प्रचार करके उन्हें फिर हिन्दू बनाने का कार्य प्रारंभ किया। इस प्रकार दोनों ओर से ऐसी बातें हुईं जिससे एकता भंग होने लगी।

खिलाफत का अन्त

असहयोग आन्दोलन के प्रारंभ होने पर यद्यपि देश के सभी राष्ट्रीय नेता उसमें सम्मिलित हुए थे तथापि वह पूरी तरह गांधीजी की विचार-

धारा से सहमत नहीं थे। उनमें बहुत से ऐसे लोग थे जो कौन्सिलों में जाकर सरकार से लड़ाई लड़ना चाहते थे। अपनी मृत्यु के पूर्व लोकमान्य तिलक ने शासन-सुधार 'असंतोष-जनक, अपर्याप्त और निराशा-जनक' कहकर भी अपने दल की यह नीति घोषित की थी वह शासन-सुधार की अच्छाइयों से लाभ उठाकर पूर्ण उत्तरदायी शासन की दिशा में आगे बढ़ने का प्रयत्न करेंगे और इसके लिए वैधानिक विरोध प्रारंभ करेंगे। नागपुर कांग्रेस के समय भी पं० मदनमोहन मालवीय, लाला लाजपतराय, देशबंधु चित्तरंजनदास, मोतीलाल नेहरू और विपिनचन्द्र पाल जैसे बड़े-बड़े नेता गुप्त रूप से बनारस में मिले थे और इस बारे में विचार-विनिमय कर चुके थे, लेकिन देशबन्धु और नेहरूजी गांधीजी के प्रभाव में आ गए। अतः वह विचार आगे नहीं बढ़ सका। जब आन्दोलन स्थगित कर दिया गया तो यह विचार सभी नेताओं के मन में तीव्रता से उत्पन्न हुआ। जेल से छूटते ही देशबन्धु ने अपना यह विचार व्यक्त किया और इसके लिए नेताओं से मिलना-जुलना प्रारंभ किया। परिणाम यह हुआ कि कांग्रेसियों में मतभेद प्रारंभ हो गया। कुछ लोग ऐसे थे जो गांधीजी के बताये हुए मार्ग पर ही चलना चाहते थे। और दूसरे वह थे जो कौंसिल-प्रवेश पर जोर दे रहे थे। पहले दल के नेता थे श्री राजगोपालाचार्य और राजेन्द्र बाबू और दूसरे दल के नेता थे श्री देशबन्धु दास और पं० नेहरू। सन् १६२२ के नवम्बर मास में कलकत्ता में जो अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की मीटिंग हुई उसमें इस प्रश्न को लेकर काफी खींचातानी हुई। श्री देशबन्धु चित्तरञ्जनदास ने कौंसिल-प्रवेश का प्रस्ताव रखा और पं० मोतीलाल नेहरू ने उसका जोरदार समर्थन किया। श्री राजगोपालाचार्य ने इसका विरोध किया। परिणाम यह हुआ कि प्रस्ताव ६६ प्रतिशत मतों से गिर गया।

स्वराज्य-दल की पृष्ठभूमि

थोड़े ही दिन बाद १६२२ के दिसम्बर मास में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन गया में हुआ। सभापति श्री देशबन्धु चित्तरञ्जनदास चुने गए। उनके असाधारण व्यक्तित्व ने अधिवेशन में जान डाल दी। उनका भाषण तर्क, अध्ययन और व्यावहारिक

गया कांग्रेस

आदर्शवाद से पूर्ण था। इस कांग्रेस में भी फिर कौन्सिल-प्रवेश का वही प्रश्न उपस्थित हुआ। काफी गरमा-गरम बहस हुई। श्री विट्ठलभाई पटेल और श्रीनिवास आयंगर जैसे नेताओं ने श्री दास के विचार का समर्थन किया। खिलाफत के नेताओं ने भी फतवा निकाल दिया कि अब कौन्सिलों में जाना हराम नहीं है। लेकिन इस विचार का काफी विरोध हुआ। जब मत लिये गए तो फिर अपरिवर्तनवादियों की ही जीत हुई। लेकिन इस बार इतना कड़ा मुकाबला हुआ कि अपरिवर्तनवादी जीतकर भी उदास थे और परिवर्तन-वादी हार कर भी हतोत्साह नहीं हुए थे। अपरिवंतनवादियों के जीत जाने से देशबन्धु दास ने त्याग-पत्र दे दिया।

कांग्रेस का आगामी अधिवेशन सन् १९२३ में कोकोनाड़ा में मौलाना मुहम्मदअली की अध्यक्षता में हुआ। इस अधिवेशन में फिर वही कौन्सिल-प्रवेश का प्रश्न इतने जोर से उठा था कि परिवर्तनवादियों को अपने विचार के अनुसार चलने के लिए मुक्त करना पड़ा। आगामी नवम्बर मास में ही धारा-सभाओं का चुनाव होने वाला था। कोकोनाड़ा अधिवेशन में यह कह दिया गया कि कौन्सिल-प्रवेश के सम्बन्ध में दिल्ली-अधिवेशन के प्रस्ताव से कांग्रेस नीति में परिवंतन होने का जो सन्देह किया जा रहा है वह ठीक नहीं है। उससे कांग्रेस की नीति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। लेकिन इसके साथ ही यह भी कहा गया कि जो लोग कौंसिल-प्रवेश के पक्ष में हैं वे उसके लिए स्वतंत्र हैं। उनसे यह आशा है कि वे कौंसिलों में रहकर भी असह-योग की नीति ही अपनायंगे।

गांधीजी छूटे

इधर ५ फरवरी सन् १९२४ को बीमारी के कारण गांधीजी को मुक्त कर दिया गया। जेल में वह अपेण्डिसाइटिस (अन्त्र पुच्छ) से पीड़ित रहे। दर्द इतना बढ़ा कि ऑपरेशन करना अनिवार्य हो गया। ऑपरेशन के बाद वह इतने कमजोर हो गए कि सरकार ने उनको मुक्त करना उचित समझा। मुक्त होने पर उनके सामने वही कौंसिल-प्रवेश का प्रश्न आया। वह देशबन्धु दास और मोतीलालजी से मिले। गांधीजी ने एक वक्तव्य प्रकाशित किया। गांधी-जी ने कौंसिल-प्रवेश के प्रश्न पर इन नेताओं से एक प्रकार का समझौता

कर लिया और उन्हें अपने ढंग से राजनैतिक कार्य करने के लिए मुक्त कर दिया। और वह स्वयं रचनात्मक कार्य में लग गए।

बेलगांव कांग्रेस

सन् १९२४ के दिसम्बर मास में बेलगांव में गांधीजी के सभापतित्व में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। यह अधिवेशन इस दृष्टि से बड़ा महत्त्वपूर्ण है कि इसमें गांधीजी के अनुयायियों तथा स्वराज्य दल में अभी तक जो मतभेद चला आ रहा था और जिसने परिवर्तनवादी और अपरिवर्तनवादी नाम के दो दल बना दिये थे, वह शांत हो गया। गांधीजी ने दोनों में समझौता करा दिया। उन्होंने अपने भाषण में बताया कि हिंसा का बहिष्कार कर अहिंसक ढंग से आंदोलन चलाने के कारण कांग्रेस ने कितनी शक्ति प्राप्त करली है। उन्होंने विदेशी वस्त्र के बहिष्कार पर बड़ा जोर दिया और कहा कि लंकाशायर से जो कपड़ा हमारे यहाँ आता है और उसका जो व्यापार हो रहा है वह बड़ा ही अनैतिक है। उसके द्वारा देश के हजारों व्यक्तियों का जबरदस्त शोषण हो रहा है। उन्होंने जोर के साथ कहा कि हाथकती और हाथ-बुनी खादी के द्वारा ही बहिष्कार को प्रभावशाली बनाया जा सकता है। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा कि स्वराज्य दल के नेताओं के प्रति उनके मन में कोई दुर्भावना नहीं है। कांग्रेस का कार्य बड़े अच्छे वातावरण में सम्पन्न हुआ। गांधीजी ने स्वराज्य दल के कार्य पर सहमति व्यक्त की और स्वराज्य दल ने खादी का कार्य स्वीकार कर लिया। इस कांग्रेस में यह कहा गया कि हर एक कांग्रेसी को स्वराज्य प्राप्ति के लिए खादी और चर्खे के प्रचार, हिंदू-मुस्लिम एकता और अस्पृश्यता-निवारण का कार्य करना चाहिए। इस अधिवेशन में हिंदी को राष्ट्र-भाषा स्वीकार किया गया।

स्वराज्य दल का लक्ष्य और उसकी कार्य-प्रणाली

जैसा कि ऊपर की घटनाओं से स्पष्ट है स्वराज्य दल का जन्म असहयोग आंदोलन में अविश्वास की भावना से हुआ था। स्वराज्य दल का विश्वास था कि चुनावों में भाग लेकर वह जनता में उत्साह की लहर दौड़ा देगा और राष्ट्रीयता का शक्तिशाली प्रचार शुरू कर देगा। उसका विचार था कि कौंसिल-प्रवेश असहयोग के लिए किसी प्रकार घातक नहीं

है। धारा-सभाओं में गतिरोध पैदा करना उसका लक्ष्य था। गतिरोध से उसका मतलब यह था कि स्वराज्य-प्राप्ति के मार्ग में जो बाधाएं हैं उनका डटकर विरोध किया जाय। इसके लिए उसने यह नीति अपनाई कि सरकार जो प्रस्ताव अपने लिए पास करवाना चाहती है उनका विरोध किया जाय तथा इसी प्रकार की बजट की मांगों पर भी अपनी असहमति प्रकट की जाय। दूसरी ओर राष्ट्रीय-जीवन के विकास में सहायक प्रस्ताव पास करवाये जायं और कानून बनवाये जायं। यह सब उसका कौंसिल के अंदर का कार्यक्रम था। बाहर उसे गांधीजी के रचनात्मक कार्य को बल पहुंचाना था। सारांश यह कि बाहर जो लड़ाई कांग्रेस हार चुकी थी उसे अब स्वराज्य-दल धारा-सभाओं में जीतना चाहता था।

स्वराज्य-दल का कार्य

स्वराज्य-दल का सम्बन्ध कांग्रेस से था। कांग्रेस इस समय तक काफी लोकप्रिय बन चुकी थी। अतः सन् १९२३ के चुनाव में अधिकांश स्थानों पर स्वराज्य-दल की जीत हुई। इसके पहले नरम-दल अनेक स्थानों पर विजयी होकर धारा-सभाओं में पहुंचा था लेकिन उसे सरकार की स्वच्छन्दता के सामने हमेशा पराजित होना पड़ता था। स्वराज्य-दल के जाने से नरम-दल और सरकार दोनों की ही परेशानी बढ़ गई। नरम-दल के हाथ से बहुत से स्थान चले गए और सरकार को मजबूत विरोधियों का सामना करना पड़ा। इससे पहले ही चुनाव में बंगाल और मध्य-प्रदेश की धारा-सभाओं में उसे शानदार विजय प्राप्त हुई थी और केन्द्रीय धारा-सभा के १४५ स्थानों में से उसने ४५ स्थान प्राप्त कर लिये थे। केन्द्रीय धारा-सभा के कांग्रेस-दल के नेता पं० मोतीलाल नेहरू थे। यद्यपि सरकार के काम में बाधा उपस्थित करने के लिए उनकी संख्या बहुत कम थी और उन्हें स्वतन्त्र सदस्यों से हमेशा समझौता करना पड़ता था, तथापि सन् १९२४ की १८ फरवरी को पं० मोतीलाल नेहरू ने बहुमत से सन् १९१९ के शासन-सुधार में संशोधन करने का प्रस्ताव पास करवा लिया। मजदूर दल की सरकार ने स्वराज्य-दल की मांगों के प्रति बड़ी सहानुभूति दिखाई लेकिन चूंकि नौकरशाही हमेशा भारत में अराजकता फैलने की बातें किया करती थी, अतः

वह शीघ्र ही कुछ न कर सकी। कुछ समय बाद उसने भारत सरकार के गृह-मंत्री सर अलक्जेण्डर मुडीमैन की अध्यक्षता में यह जांच करने के लिए एक कमेटी नियुक्त की कि शासन-सुधार में क्या त्रुटियां हैं और उन्हें किस प्रकार दूर किया जा सकता है। श्री तेजबहादुर और श्री अय्यर, मुहम्मदअली जिन्ना और डाक्टर आर० पी० परांजपे जैसे प्रसिद्ध भारतीय विद्वानों ने इस कमेटी में काम किया। सरकार ने मोतीलालजी से भी इस काम में मदद देने की प्रार्थना की लेकिन उन्होंने यह कहकर इंकार कर दिया कि इन सीमाओं में बंधकर जांच करना सम्भव नहीं है। उन्होंने सन् १९२४-२५ के बजट को पास होने देने में बड़ी बाधाएं उपस्थित कीं और कुछ कानून भी रद्द करवाये, लेकिन अपने अल्पमत के कारण वह कोई बड़ी बाधा उपस्थित नहीं कर सके।

बंगाल और मध्य-प्रदेश में कांग्रेस को स्पष्ट रूप से सफलता मिली। बंगाल में स्वराज्य-दल ही सबसे बड़ा दल था। लार्ड लिटन ने बहुमत वाला दल होने के कारण स्वराज्य-दल से मंत्रि-मंडल बनाने के लिए कहा, लेकिन स्वराज्य-दल के नेता श्री देशबन्धु दास ने इन्कार कर दिया। उनके जबरदस्त व्यक्तित्व के प्रभाव से सरकार को अनेक बार बाधाओं का सामना करना पड़ा। बंगाल में तो स्वराज्य-दल नौकरशाही के लिए शेर की तरह भयानक बन गया। श्री देशबन्धु दास की मृत्यु के बाद बंगाल में स्वराज्य-दल की शक्ति कम हो गई लेकिन फिर भी सरकार मन्त्रि-मण्डल नहीं बना सकी। बंगाल में द्वैध-शासन की असफलता देखने योग्य थी। इस प्रकार मध्यप्रदेश में भी स्वराज्य-दल सफलतापूर्वक वैधानिक विरोध करता रहा। यद्यपि स्वराज्य-दल को सभी प्रान्तों की धारासभाओं में बहुमत प्राप्त नहीं हो सका था तथापि उसने इन दो प्रान्तों में ही अपने जबरदस्त विरोध से यह दिखा दिया कि १९१९ के शासन-सुधार कितने थोथे हैं। देशबन्धु दास स्वराज्य-दल के दिमाग थे। सन् १९२५ में १६ जून के दिन उनकी मृत्यु हो गई। उनकी मृत्यु से स्वराज्य-दल को बड़ी क्षति पहुँची।

स्वराज्य-दल में धीरे-धीरे कमजोरियाँ घर करने लगीं। वह अपनी निरन्तर बाधाएं उपस्थित करने की नीति पर दृढ़ नहीं रह सका। देशबन्धु-

दास के समय में ही यह कमजोरी आने लगी थी। उन्होंने स्वयं फरीदपुर के प्रांतीय सम्मेलन में कुछ शर्तें रखी थीं जिनके स्वीकार कर लिये जाने पर वे सरकार के साथ सहयोग करने को तैयार थे। यह उनकी मृत्यु के कुछ ही दिन पहले की बात थी। उनकी मृत्यु के बाद तो यह कमजोरी अधिकाधिक बढ़ती गई। केन्द्रीय धारा-सभा में श्री विट्ठलभाई पटेल ने स्पीकर बनना और पं० मोतीलाल नेहरू ने स्कीन-कमेटी में रहना स्वीकार कर लिया। सन् १९२६-२७ में जब हिन्दू-मुस्लिम दंगे जोरशोर से होने लगे तो पं० मदनमोहन मालवीय और लाला लाजपतराय ने एक अलग दल का संगठन किया। उनका विचार यह था कि सरकार का विरोध करने के कारण हिन्दूहितों को हानि पहुंच रही है। मध्य-प्रदेश में भी स्वराज्य-दल में दो दल बन गए और आगे चलकर लगभग सभी जगह ऐसे दो दल बन गए जिनमें एक सरकार के साथ सहयोग की नीति अपनाना चाहता था और दूसरा बाधाएं उपस्थित करने की। पं० मोतीलाल नेहरू ने इन दोनों दलों में समझौता कराने की दृष्टि से सन् १९२६ के अप्रेल मास में धारा-सभाओं का एक सम्मेलन साबरमती में आयोजित किया। उसमें कुछ बातें तय भी हुईं लेकिन वे बातें ज्यादा दिन नहीं चल सकीं।

हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए गांधीजी का २१ दिन का उपवास

इधर गांधीजी धारा-सभा के काम से एकदम उदासीन थे। उनका दृढ़ विश्वास था कि रचनात्मक कार्यों के द्वारा ही देश स्वराज्य के निकट पहुँच सकता है। बहुत से लोगों की इच्छा देखकर यद्यपि उन्होंने उन्हें धारा-सभाओं में जाने के लिए स्वतंत्र कर दिया था तथापि वह स्वयं रचनात्मक कार्यक्रम में ही लगे हुए थे। इन दिनों सारे देश में हिंदू-मुस्लिम दंगे हो रहे थे। गांधीजी इससे बड़े परेशान थे। इन्हीं दिनों कोहाट में एक बहुत बड़ा दंगा हो गया। उसकी जांच करने के लिए मौलाना शौकतअली और गांधीजी की एक कमेटी बनी। गांधीजी और मौलाना साहब ने दंगे के कारणों की जांच-पड़ताल की। इस जांच के बाद मौलाना साहब ने यह मत व्यक्त किया कि दंगे में हिंदुओं का ही दोष था। गांधीजी उनके मत से सहमत नहीं थे। उनको इस विचार से बड़ी

चोट पहुंची और उन्होंने दिल्ली में २१ दिन का उपवास किया । इसी समय एक 'एका कान्फ्रैंस' भी हुई जिसमें दंगों को रोकने के प्रयत्नों पर विचार किया गया।

कानपुर और गोहाटी कांग्रेस

सन् १९२५ में कानपुर में श्रीमती सरोजिनी नायडू के सभापतित्व में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। श्रीमती नायडू एक कवियित्री के रूप में तो काफी प्रसिद्ध थीं ही, उन्होंने गांधीजी के साथ रहकर राजनैतिक क्षेत्र में भी काम किया था । अधिवेशन में बहुत से प्रस्ताव पास हुए। लेकिन इस समय देश में एक निर्जीवता-सी फैली हुई थी । अगले वर्ष सन् १९२६ में श्री श्रीनिवास आयंगर के सभापतित्व में गोहाटी में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ । अधिवेशन के कुछ ही दिन पहले स्वामी श्रद्धानंद की एक धर्मान्ध मुसलमान ने हत्या कर दी थी। अतः कांग्रेस की कार्यवाही इसी शोक के वातावरण में हुई। स्वामीजी आर्यसमाज के बड़े नेताओं में से थे। वह शुद्धि आंदोलन चला रहे थे। इसीसे चिढ़कर उनकी हत्या की गई थी । इस शोक में सभापति का जलूस नहीं निकला गया और पहला प्रस्ताव भी उनकी मृत्यु पर शोक प्रकट करने के संबंध में ही पास हुआ । कुछ अन्य प्रस्ताव भी पास हुए थे लेकिन डा० पट्टाभि सीतारामैया ने ठीक ही लिखा है कि : "अब तक (१९२६) कांग्रेस का इतिहास शुभेच्छा-पूर्ण प्रस्तावों की तथा कौन्सिल के ग तगड़ की इकरस कहानी हो चली थी।" पुरानी बातों को ही फिर से दोहराया गया।

क्रान्तिकारी हलचल फिर आरंभ हुई

जबतक असहयोग आन्दोलन चलता रहा तबतक कोई क्रान्तिकारी हलचल नहीं हुई । लेकिन उसके समाप्त होने के बाद वह फिर प्रारंभ होने लगी । बंगाल में अनुशीलन समितियों के संगठन का कार्य प्रारम्भ हो गया और उत्तर-भारत में श्री शचीन्द्रनाथ सान्याल बिखरे हुए क्रान्तिकारियों का संगठन करने लगे। सबसे पहले सन् १९२३ के अगस्त मास में शंगरि टोला के पोस्ट आफिस पर हमला किया गया । इसके बाद कुछ छोटी-छोटी घटनाएं हुईं। सन् १९२४ के जनवरी मास में गोपीमोहन साहा

नें पुलिस के एक अधिकारी श्री टेगर्ट के धोखे में एक अंग्रेज सौदागर को मार डाला। क्रान्तिकारी हलचलें बढ़ने लगीं। सरकार सतर्क हुई; बहुत से नौजवानों को पकड़ा जाने लगा। उत्तरप्रदेश में भी अस्त्र-शस्त्र इकट्ठे हुए और छोटे-मोटे डाकों की खबर सुनाई देने लगी। सबसे बड़ी घटना घटी काकोरी षड्यन्त्र की। क्रान्तिकारी दल के नवयुवकों ने लखनऊ के पास काकोरी स्टेशन से थोड़ी ही दूरी पर एक पैसेन्जर ट्रेन रोक कर उसका खजाना लूट लिया। यह एक चौंका देने वाली घटना थी। जांच-पड़ताल प्रारंभ हुई और बहुत से लोग गिरफ्तार हुए। मुकदमा डेढ़ साल तक चलता रहा। अभियुक्तों की सफाई के लिए एक कमेटी बनी, जिसमें पं० मोतीलाल नेहरू और जवाहरलाल नेहरू भी थे। सरकार ने इस मुकदमे में १५ लाख रुपये खर्च किये। वह डेढ़ वर्ष तक चलता रहा। अन्त में पं० रामप्रसाद बिस्मिल, अशफाकउल्ला, राजेन्द्रलाहिड़ी तथा रोशनसिंह को फांसी की सजा दे दी गई। इस दल के नेता चन्द्रशेखर आजाद को सरकार नहीं पकड़ सकी। चन्द्रशेखर आजाद अपने क्रान्तिकारी कार्यों के लिए इन दिनों काफी प्रसिद्ध हो चुके थे।

: १७ :

सविनय-अवज्ञा-आन्दोलन

फिर जाग्रति की लहर

सन् १९२८ का वर्ष राजनैतिक चेतना का वर्ष था। पांच वर्ष की लम्बी तन्द्रा के बाद मानो देश और विशेषकर उसका युवक समाज फिर अंगड़ाई लेकर उठ खड़ा हुआ था। पिछले पांच वर्ष स्वराज्य-दल की हलचल के वर्ष थे, जिनमें वह धारासभाओं में कार्य करता रहा। आम जनता से जैसे उसका सम्बन्ध टूट गया था। जनता को उसके कार्यक्रम में दिलचस्पी भी क्या हो सकती थी? अतः अब जनता में क्रान्ति की हलचल प्रारंभ हुई। जगह-जगह युवकों के संगठन बनने लगे और देश में फिर से नई चेतना लाने का प्रयत्न करने लगे। इस कार्य में अग्रणी थे दो युवक-नेता—पं० जवाहरलाल नेहरू और

सुभाषचन्द्र बोस। दोनों ही अदम्य इच्छा-शक्ति, क्रान्तिकारी भावना और अटूट देशप्रेम लेकर भारत के राजनैतिक क्षितिज पर उदय हुए।

दूसरी महत्व की बात थी ट्रेड यूनियन आन्दोलन की हलचल। ट्रेड-यूनियन आन्दोलन की लहर अब लगभग सभी बड़े शहरों के कारखानों में पहुच गई थी। अब हड़तालें प्रारंभ होगई थीं और मजदूरों में नई चेतना का संचार हो रहा था। चंपारन का सत्याग्रह तो बहुत पहले सफल हो चुका था। खेड़ा और बारडोली के सत्याग्रह ने किसानों में भी आत्म-विश्वास पैदा कर दिया था। बारडोली में सरकार द्वारा लगान बढ़ाये जाने पर जो सत्याग्रह सरदार वल्लभभाई पटेल के नेतृत्व में हुआ उसकी सफलता ने सारे देश के किसानों को जगा दिया। इधर मध्यम श्रेणी के पढ़े-लिखे लोग, जो बड़ी आशा से स्वराज्य-दल की कार्यवाहियों को देख रहे थे, अब उससे निराश हो चुके थे और चाहते थे कि फिर कोई क्रान्तिकारी कदम उठाया जाना चाहिए। नेताओं का भी यही हाल था। कौंसिलों में जाकर जो कुछ करने की वे सोच रहे थे उसे न होते हुए देख कर वे कौन्सिल-प्रवेश की व्यर्थता को समझ गए थे। इस प्रकार चारों ओर ऐसा वातावरण बनता जा रहा था जिसमें जनता इस उदासीनता और निष्क्रियता को मिटा देना चाहती थी।

साइमन कमीशन

इस गरम वातावरण में साइमन कमीशन की नियुक्ति के समाचार ने मानो चिनगारी डाल दी। सन् १९१९ के सुधार में यह बात कही गई थी कि दस वर्ष के बाद एक ऐसा कमीशन नियुक्त किया जायगा जो इस सुधार-कानून की जांच करेगा। अतः सन् १९२७ के नवम्बर मास में इस कमीशन की नियुक्ति की घोषणा की गई। इस कमीशन में मजदूर दल के २, उदार दल के २ तथा अनुदार दल के ४ सदस्य थे। इस कमीशन में किसी भी भारतीय का न होना चौंका देने वाला था। लेकिन इससे भी बड़ी बात यह थी कि इस कमीशन में उस मज़दूर दल के सदस्य भी सहयोग दे रहे थे जिनसे भारतीय नेता अगले चुनाव में सफल हो जाने पर बड़ी-बड़ी आशाएं रखते थे। फिर यह कमीशन केवल जांच करने के ही लिए नियुक्त हुआ था।

अतः यह आशा भी लगभग समाप्त हो गई कि उसकी सिफारिशों पर शासन-सुधार की दिशा में कोई ठोस कदम उठाया जायगा। अतः इस कमीशन की नियुक्ति की घोषणा से चारों ओर क्षोभ छा गया। मद्रास कांग्रेस में, जो सन् १९२७ में डा० अंसारी के सभापतित्व में हुई, कमीशन के बहिष्कार का प्रस्ताव बड़े जोशके साथ स्वीकार हो गया। यह तय किया गया कि जिस दिन कमीशन भारत-भूमि पर पैर रखे उसी दिन सारे देश में हडताल की जाय और वह जहाँ-जहाँ जाय वहां काले झण्डों, हड़ताल और बहिष्कार से उसका स्वागत किया जाय। ३ फरवरी सन् १९२८ को कमीशन के सदस्य बम्बई आये। इस दिन सारे देश में हड़ताल मनाई गई। इसके बाद वे लोग जहां-जहां गये वहीं 'साइमन लौट जाओ' के नारे और काले झण्डों से उनका स्वागत हुआ। वे यह देख कर बड़े परेशान थे कि रात में भी उन्हें चैन नहीं मिलता था। क्योकि कहीं-कहीं लोग रात में भी उनके निवास-स्थान पर नारे लगाते थे। जब कमीशन लाहौर पहुंचा तो लाला लाजपत-राय के नेतृत्व में बहिष्कार प्रारंभ हुआ। वह सड़क के एक किनारे पर खड़े थे। जनता नारे लगा रही थी और काले झण्डे दिखा रही थी। इसी समय एक अंग्रेज पुलिस अफसर ने उन पर आक्रमण किया। उनके सिर और सीने पर चोटें आई। दुख की बात तो यह है कि यह क्रूर व्यवहार उस समय हुआ जब कि जनता शान्ति से नारे लगा रही थी और कोई भी हिंसात्मक कार्य उसकी ओर से नहीं हुआ था। लालाजी को इतनी जबर-दस्त चोट लगी कि १७ नवम्बर के दिन उनका देहान्त हो गया। उनके ऊपर आक्रमण और मृत्यु के समाचार ने वातावरण में जबरदस्त गर्मी पैदा कर दी। अब तो कमीशन का जोरशोर से बहिष्कार प्रारंभ हुआ। उत्तर-प्रदेश में पं० जवाहरलाल नेहरू और गोविन्दवल्लभपंत को भी चोट आई। जगह-जगह लाठियां चलीं और सरकार के इन अत्याचारों ने क्रान्तिकारी हलचलों की वृद्धि कर दी। क्रान्तिकारी दल के कुछ सदस्य बम लेकर पहुँचे ताकि कमीशन के सदस्य जिस गाड़ी से यात्रा कर रहे थे, उसीको उड़ा दिया जाय। लेकिन मनमाड़ में बम फट गया जिससे दल के सदस्य श्री मार्कण्डेय की मृत्यु हो गई और दो अन्य सदस्य गिरफ्तार कर लिये गए।

इधर लालाजी की मृत्यु का बदला लेने के भी प्रयत्न हुए और जिस पुलिस अधिकारी ने उनपर आक्रमण किया था, उस पर दल के सदस्य श्रीचन्द्रशेखर आजाद, श्री भगतसिंह तथा दो अन्य व्यक्तियों ने गोली चलादी। पंजाब, बंगाल और उत्तर-प्रदेश में ये हलचलें फिर प्रारंभ हो गईं और उस समय तो बड़ी जबरदस्त हलचल मची जब १६२६ में अधिवेशन-काल में श्री भगतसिंह और बटुकेश्वरदत्त ने असेम्बली-भवन में बम फेंका।

सर्वदल सम्मेलन

साइमन कमीशन में किसी भारतीय के न लेने पर भारत-मन्त्री ने कहा था कि 'भारतीय नेताओं में जबरदस्त फूट है, वे एकमत हो ही नहीं सकते। हिन्दू-मुस्लिम झगड़े इसी का परिणाम हैं, अतः उनको कमीशन में नहीं लिया गया।' भारत-मन्त्री के कथन को चुनौती देने के लिए सन् १६२८ के फरवरी और मार्च के महीनों में दिल्ली में सर्वदल सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन में लिबरल फेडरेशन, मुस्लिम लीग, हिन्दू महासभा, सिक्ख लीग, भारतीय ईसाइयों तथा देशी राज्य-प्रजा-परिषद् के प्रतिनिधिगण सम्मिलित हुए। सम्मेलन में यह निश्चय हुआ कि पं० मोतीलाल नेहरू के सभापतित्व में एक ऐसी कमेटी बनाई जाय जो औपनिवेशक स्वराज्य के आधार पर विधान बनाये। इस कमेटी में पं० नेहरू के अतिरिक्त श्री तेजबहादुर सप्रू, सर अली इमाम, श्री अणे, सय्यदकुरेशी, सुभाषचन्द्र बोस तथा श्री जी० आर० प्रधान थे। अगस्त में नेहरू-रिपोर्ट पर विचार हुआ और यद्यपि साम्प्रदायिक संस्थाओं ने कुछ आपत्तियां उठाईं तथापि वह पास हो गई। नेहरू-कमेटी के द्वारा बनाये हुए इस विधान में यद्यपि बहुत-सी कमी थी, क्योंकि सभी संप्रदायों को संतुष्ट करने का प्रयत्न किया गया था तथापि वह देश की मांगों पर प्रकाश डालने वाला एक अच्छा विधान था। सभी प्रकार के लोगों के हितों का उसमें उचित रूप से खयाल रखा गया था।

कलकत्ता कांग्रेस

सन् १६२८ के दिसम्बर मास में श्री पं० मोतीलाल नेहरू के सभापतित्व में कलकत्ता में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। साइमन कमीशन अभी भारत में ही था और उसके बहिष्कार के कारण वातावरण में काफी गर्मी थी। पं०

नेहरू ने अपने भाषण में उसके सफल बहिष्कार का वर्णन किया। उन्होंने कहा कि हमारा ध्येय है स्वतन्त्रता प्राप्त करना। सरकार को अब उन सभी सुझावों को स्वीकार कर लेना चाहिए जो सर्वदल सम्मेलन ने प्रस्तुत किये हैं। इस बार गांधीजी ने अधिवेशन के काम में बड़ी दिलचस्पी ली। उन्होंने एक प्रस्ताव रखकर नेहरू-रिपोर्ट को स्वीकार करने का अनुरोध किया। लेकिन पं० जवाहरलाल नेहरू और श्री सुभाषचन्द्र बोस ने प्रस्ताव में उल्लिखित औपनिवेशिक स्वराज्य का कड़ा विरोध किया। ये दोनों युवक-नेता इण्डिपेण्डेण्ट लीग के सेक्रेटरी थे। ये पूर्ण स्वतन्त्रता पर जोर दे रहे थे। गांधीजी ने यह स्वीकार कर लिया कि यदि भारत सरकार एक वर्ष के अंदर-अन्दर औपनिवेशिक स्वराज्य प्रदान नहीं करती है तो वे इन युवकों की बात मान लेंगे। कांग्रेस ने गांधीजी का मार्ग-दर्शन स्वीकार कर लिया और सरकार को चेतावनी दी कि यदि ३१ दिसम्बर सन् १९२९ तक सर्वदल सम्मेलन द्वारा स्वीकृत वैधानिक सिद्धान्तों को स्वीकार नहीं किया गया तो अहिंसक असहयोग आंदोलन प्रारंभ कर दिया जायगा और जनता से कहा जायगा कि वह सरकार को कर देना बन्द कर दे। कांग्रेस के इतिहास में यह पहला प्रस्ताव था जिसमें स्वतन्त्रता की मांग स्पष्ट शब्दों में की गई थी और उसे पूरा न करने पर आंदोलन की धमकी दी गई थी। अब फिर से कांग्रेस के नेतृत्व की बागडोर स्वराज्य-दल के हाथ से गांधीजी के हाथ में आ गई। अधिवेशन में यह कहा गया कि जनता स्वराज्य के लिए प्रचार तो करे ही लेकिन साथ-साथ रचनात्मक कार्य भी करे।

मजदूर-दल की सरकार

सन् १९२९ के अप्रैल मास तक साइमन कमीशन की जाँच समाप्त हो गई तथा मई में ब्रिटेन के चुनाव का परिणाम घोषित हो गया। इस बार मजदूर-दल विजयी हुआ। भारतीय नेताओं में इस विजय से आशा का संचार हुआ; लेकिन देश की स्थिति कुछ विषम ही बनती जा रही थी। मध्यम श्रेणी के युवकों में असन्तोष बढ़ता जा रहा था। इधर श्रमिकों की हालत भी दिन-प्रति-दिन खराब होती जा रही थी। बेकारी बढ़ रही थी और काम के अभाव में मजदूरों में बेचैनी फैल रही थी। इन्हीं दिनों बंबई में एक बहुत बड़ी हड़-

ताल हुई जिसने सरकार और मिल-मालिकों को चौंका दिया। मजदूर आंदोलन तेजी से लोकप्रिय हो रहा था। विचारधारा और संगठन की दृष्टि से वह प्रतिदिन अधिकाधिक सरकार-विरोधी हो रहा था। अतः सरकार परेशान हुई। मार्च मास में ट्रेड यूनियन के ३१ कार्यकर्ता राजद्रोह के अपराध में पकड़ लिये गए और चार वर्ष तक बिना मुकदमा चलाये उन्हें जेल में बन्द रखा गया। बाद में एक विशेष अदालत में इस मुकदमे की सुनाई हुई। फैसले में उन्हें बड़ी-बड़ी सजाएं दी गई। आरोप यह था कि वे कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल के इशारों पर भारत में रूसी शासन पद्धति स्थापित करने के षड्यन्त्र रच रहे हैं। यह मुकदमा मेरठ षड्यन्त्र के नाम से प्रसिद्ध है।

इधर वाइसराय लार्ड इरविन सन् १९२९ के जून मास में इंग्लैंड गये। उन्होंने भारत की सारी स्थिति सम्राट की सरकार के सामने रखी। वहां से लौटने पर ३१ अक्तूबर के दिन उन्होंने घोषणा की कि सम्राट की सरकार भारत में स्वशासन की संस्थाओं का धीरे-धीरे इस प्रकार विकास करना चाहती है कि वह अन्त में औपनिवेशिक स्वराज्य प्राप्त कर सके। घोषणा में यह कहा गया कि सम्राट की सरकार ब्रिटिश एवं देशी राज्यों के प्रतिनिधियों की एक ऐसी कांफ्रेंस बुलाना चाहती है जिसमें सब प्रश्नों पर विचार करके कोई सर्व-सम्मत हल ढूँढा जा सके। भारत के उदार नेताओं ने इस घोषणा का स्वागत किया। गांधीजी ने भी कहा कि यदि सच्चे अर्थ में भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य दिया जा रहा हो तो मैं उसके लिए प्रतीक्षा कर सकता हूं। लेकिन जब पार्लामेंट में भारत-संबन्धी नीति पर बहस हुई तो इस घोषणा की पोल खुल गई। फिर भी लाहौर-कांग्रेस में जाते हुए पं० मोतीलाल नेहरू तथा गांधीजी वाइसराय से मिले। यद्यपि वाइसराय की ट्रेन को अभी-अभी हैदराबाद से दिल्ली आते हुए मार्ग में बम से उड़ाने का प्रयत्न किया गया था फिर भी वाइसराय ने बड़ी प्रसन्नता पूर्वक बात की। गांधीजी यह आश्वासन चाहते थे कि गोल-मेज परिषद् की कार्यवाही पूर्ण औपनिवेशक स्वराज्य के आधार ही पर चलेगी लेकिन वाइसराय यह आश्वासन नहीं दे सके।

अब समझौते की कोई आशा नहीं थी। अतः स्वभावतः लाहौर अधिवेशन के समय वातावरण में काफी उत्तेजना थी। पिछले एक वर्ष से युवकों और पुराने नेताओं में कशमकश भी चलती आरही थी। अतः इस बार पं० जवाहरलाल नेहरू को सभापति चुनकर बड़ी बुद्धिमत्ता का परिचय दिया गया था। उनका चुनाव इस बात की ओर भी संकेत करता था कि आगामी दिनों में कांग्रेस संघर्ष की ओर अग्रसर होनेवाली है। पं० नेहरू समाजवाद और पूर्ण स्वतंत्रता का नारा लगा रहे थे। अपने अभिभाषण में उन्होंने कहा कि : "मैं एक प्रजातंत्रवादी और समाजवादी हूं। मुझे राजा-महाराजाओं और सम्राटों में कोई विश्वास नहीं है। उन्होंने साम्राज्यवाद की कड़ी निंदा की और कहा कि वह स्वतंत्रता की राष्ट्रीय मांग की उपेक्षा करता जा रहा है। उन्होंने रणनीति के रूप में अहिंसा की प्रशंसा की और यह बात स्पष्ट रूप से कह दी कि भारतीय स्वातंत्र्य संग्राम अंग्रेजी राज्य के विरुद्ध एक खुला षडयंत्र है।

लाहौर अधिवेशन

अधिवेशन में यह स्पष्ट कर दिया गया कि वर्तमान स्थिति में गोलमेज परिषद् में भाग लेने से कोई लाभ नहीं होगा। इसी अधिवेशन में यह ऐतिहासिक घोषणा भी की गई कि अब कांग्रेस का लक्ष्य पूर्ण स्वतंत्रता रहेगा। इस पूर्ण स्वतंत्रता का अर्थ है ब्रिटिश सम्बन्ध से बिलकुल अलग हो जाना। यद्यपि मद्रास कांग्रेस में भी स्वतंत्रता का प्रस्ताव पास हो चुका था लेकिन पास होने के बाद भी वातावरण में काफी शिथिलता थी। इस बार यह शिथिलता कहीं भी दिखाई नहीं दे रही थी। कलकत्ता कांग्रेस के बाद अब पूरा एक वर्ष बीत चुका था और सरकार को जो अवधि दी गई थी वह भी समाप्त हो रही थी। अतः ३१ दिसम्बर को १२ बजे रात के बाद पूर्ण स्वतंत्रता का प्रस्ताव पास किया गया। संघर्ष के पहले कदम के रूप में असेम्बली तथा कौन्सिलों के सदस्यों को यह आदेश दिया गया कि वह अपनी सदस्यता से त्यागपत्र दे दें और आगामी चुनावों में सम्मिलित न हों। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी को यह अधिकार दिया गया कि वह जब और जहाँ चाहें सविनय अवज्ञा आंदोलन प्रारंभ कर सकती है। श्री श्रीनिवास

आयंगर तथा सुभाषचंद्रबोस ने यह कह कर इस प्रस्ताव का विरोध किया कि यह सरकार के विरुद्ध युद्ध छेड़ने की स्पष्ट घोषणा नहीं है। उन्होंने कांग्रेस डेमक्रेटिक पार्टी की भी स्थापना की लेकिन यह पार्टी पंनप नहीं सकी। लाहौर का वह ऐतिहासिक अधिवेशन इस दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण था कि उसने सारे देश में फिर से चेतना का संचार कर दिया।

सविनय-अवज्ञा-आन्दोलन

लाहौर अधिवेशन के बाद २ जनवरी के दिन नई कार्यसमिति की बैठक हुई। उसमें यह निश्चय हुआ कि २६ जनवरी को देश में पूर्ण स्वराज्य दिवस मनाया जाय। इस दिन सर्वत्र सभाएं की जायं। उनमें निम्नलिखित घोषणापत्र पढ़ कर सुनाया जाय :

"हम भारतीय प्रजाजन भी अन्य राष्ट्रों की भांति अपना यह जन्मसिद्ध अधिकार मानते हैं कि हम स्वतन्त्र होकर रहें, अपने परिश्रम का फल हम स्वयं भोगें और हमें जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक सुविधाएं प्राप्त हों, जिससे हमें भी विकास का पूरा मौका मिले। हम यह भी मानते हैं कि यदि कोई सरकार ये अधिकार छीन लेती है और उसे सताती है तो प्रजा को उस सरकार को बदल देने या मिटा देने का भी अधिकार है। भारत की अंग्रेजी सरकार ने भारतवासियों की स्वतन्त्रता का ही अपहरण नहीं किया है बल्कि उसका आधार भी गरीबों के रक्त-शोषण पर है और उसने आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से भारतवर्ष का नाश कर दिया है। अतः हमारा विश्वास है कि भारतवर्ष को अंग्रेजों से सम्बन्ध-विच्छेद करके पूर्ण स्वराज्य या स्वाधीनता प्राप्त कर लेनी चाहिए।"

इस घोषणा के अन्त में कहा गया था :

"हम यह भी मानते हैं कि हिंसा के द्वारा स्वतन्त्रता नहीं मिलेगी। अतः हम ब्रिटिश सरकार से यथा संभव स्वेच्छापूर्वक किसी भी प्रकार का सहयोग न करने की तैयारी करेंगे और सविनय-अवज्ञा तथा कर-बन्दी तक के साज सजावेंगे। हमारा दृढ़ विश्वास है कि यदि हम राजी-राजी सहायता देने और उत्तेजना मिलने पर भी हिंसा किये बगैर कर देना बन्द कर सकें तो इस अमानुषी राज्य का नाश निश्चित है। अतः हम शपथ-पूर्वक संक-

ल्प करते हैं कि पूर्ण स्वराज्य की स्थापना के हेतु कांग्रेस समय पर जो आज्ञाएं देगी उनका हम पालन करते रहेंगे।"

सारे देश में स्वतन्त्रता-दिवस मनाया गया। यह दिन जिस ढंग से मनाया गया उससे यह प्रकट हो गया कि ऊपर-ऊपर दिखाई देने वाली शिथिलता और निराशा के नीचे कितना उत्साह और त्याग भरा हुआ है तथा सारा देश सीधी कार्रवाई के लिए तैयार है। असेम्बली और कौंसिलों के सदस्यों ने अन्दर से बहिष्कार प्रारंभ किया। फरवरी १९३० तक लगभग १७२ सदस्यों ने त्यागपत्र दे दिये। फ़रवरी मास में महासमिति की जो बैठक हुई उसने गांधीजी को सविनय-अवज्ञा-आन्दोलन प्रारंभ करने का अधिकार दे दिया। गांधीजी ने अपनी ११ शर्तें सरकार के सामने रखीं लेकिन उन्हें कौन मानने वाला था? सरकार ने दमन प्रारंभ कर दिया। सुभाषचन्द्र बोस तथा अन्य कई नेताओं को जेल में बन्द कर दिया गया। आन्दोलन प्रारंभ करने के पहले गांधीजी ने वाइसराय को पत्र लिख कर उनके सामने सारी स्थिति रखी, लेकिन वाइसराय ने उनके पत्र पर कोई ध्यान नहीं दिया। गांधीजी ने इस पर कहा कि मैंने रोटी मांगी थी लेकिन पत्थर मिला।

दाण्डी यात्रा

अब गांधीजी ने सविनय-अवज्ञा-आंदोलन प्रारंभ करने का निश्चय कर लिया और घोषणा की कि वह अपने आश्रम-वासियों के साथ पैदल दाण्डी-यात्रा जायंगे और वहां नमक बनाकर सत्याग्रह करेंगे। इस निश्चय के अनुसार अपने ७९ साथियों के साथ वह आश्रम से रवाना हुए। वह जिस मार्ग से जा रहे थे उससे पहले ही सरदार वल्लभभाई पटेल रवाना हो गए और लोगों को आने वाले संकटों के लिए तैयार होने की प्रेरणा देते रहे। जब वह कैद कर लिये गए तो उनकी गिरफ्तारी ने लोगों में बड़ा जोश पैदा कर दिया। इधर जब गांधीजी रवाना हुए तो उनको विदा करने के लिए लगभग ७५ हजार ग्रामीण साबरमती आश्रम में एकत्र हो गए। उन्होंने प्रतिज्ञा की कि जब-तक देश स्वतंत्र नहीं होगा वह चैन नहीं लेंगे।

यह ऐतिहासिक यात्रा बड़ी ही भव्य थी। गांधीजी आगे-आगे जा रहे

थे और पीछे-पीछे उनके साथी अनुशासन में चल रहे थे। मार्ग में दोनों ओर खड़ी हुई जनता जय-जयकार से उनका स्वागत करती थी। गांधीजी ने जहां-तहां अपने भाषण में कहा कि यह एक तीर्थ-यात्रा है। उनका भाषण सुनने के लिए हजारों लोग इकट्ठे हो जाते थे। अन्त में २४ दिन की यात्रा के बाद वह अपने दल के साथ ५ मार्च को दाण्डी पहुंचे। उन्होंने सामूहिक प्रार्थना के बाद समुद्र-किनारे जाकर नमक बनाया और नमक-कानून तोड़ा। दूसरे दिन ६ अप्रैल को सारे देश में सत्याग्रह प्रारंभ होने वाला था और सब जगह लोग नमक बनाकर कानून तोड़ने वाले थे। अतः ६ अप्रैल को सारे देश में आंदोलन प्रारंभ हुआ लेकिन गांधीजी गिरफ्तार नहीं हुए। उन्होंने निश्चय किया कि वह धरासना के नमक-गोदाम पर आक्रमण करेंगे और नमक लूटेंगे। उनका कहना था कि जिस प्रकार हवा और पानी सब लोगों के लिए है उसी प्रकार नमक भी ईश्वर ने सब लोगों के लिए बनाया है। यद्यपि यह हमला अहिंसात्मक ढङ्ग से होने वाला था तथापि सरकार के लिए अब चुप रहना कठिन था। ५ मई के दिन गांधीजी को गिरफ्तार कर लिया गया।

देश में आंदोलन की शक्तिशाली लहर

नमक-कानून तोड़ने का यह कदम यद्यपि साधारण था तथापि इसने सारे देश में हलचल पैदा कर दी। गांधीजी ने अपनी कुशाग्र बुद्धि से यह एक ऐसा सीधा-सादा तरीका ढूढ निकाला था जिसने जनता में जबरदस्त जाग्रति और उत्साह पैदा कर दिया। दाण्डी-यात्रा प्रारंभ करने के पहले ही उन्होंने "मेरे गिरफ्तार होने पर ?" नामक लेख में लोगों को यह स्पष्ट रूप से बता दिया था कि उन्हें उनके बाद किस प्रकार आंदोलन का संचालन करना चाहिये। उस लेख में उन्होंने लिखा था : "इस बार मेरी गिरफ्तारी पर मूक और निष्क्रिय अहिंसा की आवश्यकता नहीं, आवश्यकता है अत्यन्त सक्रिय अहिंसा को कार्यरूप देने की। पूर्ण स्वराज्य की प्राप्ति के लिए अहिंसा में धार्मिक विश्वास रखने वाला हर स्त्री-पुरुष, इस गुलामी में अब नहीं रहेगा। या तो मर मिटेगा या कारावास में बन्द रहेगा।" उनके इस आदेश का पूरी तरह पालन हुआ। उनकी गिरफ्तारी

के बाद ही सारे देश में हड़तालें हुईं। कांग्रेस कार्य-समिति ने कहा कि अब हमें दूने उत्साह से आंदोलन प्रारम्भ कर देना चाहिए। विद्यार्थी, किसान, मजदूर, कार्यकर्ता, वकील, व्यापारी, सरकारी नौकर सबको संगठित होकर स्वराज्य प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। उसने शराब, विदेशी वस्त्र और ताड़ी का बहिष्कार तथा कर न देने का आंदोलन प्रारंभ कर दिया। आंदोलन के सभी कार्यक्रम आर्थिक महत्व रखते थे। अतः वह देखते-ही-देखते बड़ा शक्तिशाली बन गया। गांधीजी की गिरफ्तारी से तो मानो जोश और उत्साह का ज्वालामुखी ही फूट पड़ा। देश में चारों ओर गांधीजी के आदेशों का आश्चर्यजनक रीति से पालन होने लगा। गांधीजी के बाद अब्बासतैयबजी सत्याग्रह के नायक चुने गए और उनके बाद श्रीमती सरोजिनी नायडू। श्री ब्रेल्सफोर्ड ने लिखा है: "इस युद्ध के लिए देशभर को तय्यार कर देने में गांधीजी के व्यक्तित्व ने अद्वितीय कार्य किया। उनके बिना ऐसी जबरदस्त एकता का दृश्य शायद ही देखने को मिलता। उन्होंने जैसे उसकी परम्परागत भावनाओं को छू दिया था।" परिणाम यह हुआ कि कपड़ा दूकानों में सड़ता रहा लेकिन कोई खरीददार नहीं मिला। उनका आयात तीन-चार गुना कम हो गया। बम्बई की १६ अंग्रेजी मिलें बन्द हो गईं। सिगरेट का आयात छः गुना घट गया और इसी प्रकार अन्य वस्तुओं पर भी प्रभाव पड़ा। सरकार बौखला गई। उसने पूरी शक्ति से दमन प्रारम्भ कर दिया। उसने शान्त जलूसों पर बर्बरतापूर्वक लाठी-चार्ज किया, गोलियाँ चलाईं तथा अनेक अन्य प्रकार के पशुतापूर्ण अत्याचार किये। यहाँतक कि कताई करनेवालों और राष्ट्रीय गीत गाने वालों को भी पीटा गया और उनका अपमान किया गया। कहीं-कहीं तो कक्षाओं में घुसकर विद्यार्थियों को पीटा गया। इस अत्याचार का परिणाम यह हुआ कि सरकार लोगों की नजर से बुरी तरह गिर गई। पेशावर, बंबई तथा देश के अन्य भागों में कई स्थानों पर ऐसा खून-खचर हुआ कि उसकी कल्पना करके रोंगटे खड़े हो जाते हैं। अनेक गिरफ्तारियां हुईं लम्बी-लम्बी सजाएं दी गईं और आंदोलनकारियों की जायदाद जब्त की गई। इतना ही नहीं, उनके रिश्तेदारों को भी बुरी तरह तंग किया गया।

गुजरातके अनेक गांवों के किसानों ने तो इन अत्याचारों से तंग आकर अपना सामान उठा लिया और अन्य जगह जा बसे। पेशावर के पठानों और बारडोली के किसानों ने इस समय जो बहादुरी दिखाई वह प्रशंसनीय है। खानअब्दुलगफ्फार के अनुयायियों पर बड़े-बड़े जुल्म हुए, उन्हें सार्वजनिक स्थानों पर नंगा करके पीटा तक गया लेकिन उनका जोश कमाल का था। पेशावर में कुछ दिनों के लिए अंग्रेजी शासन खत्म हो गया। वहां गढ़वाली सिपाहियों ने जनता पर गोली चलाने से इन्कार कर दिया। सारांश यह कि चार-पांच महीनों में इस आंदोलन ने देश का नक्शा ही बदल दिया। ऐसा प्रतीत होने लगा मानो कांग्रेस सरकार के मुकाबले की ही एक संस्था हो।

साइमन-कमीशन की रिपोर्ट

जून सन् १९३० में साइमन कमीशन की रिपोर्ट प्रकाशित हुई। उसने लम्बी चौड़ी सिफारिशें की थीं लेकिन उसने जनता को अधिक उत्तेजित ही किया। उसने इतने थोड़े सुधारों की भी सिफारिश नहीं की कि भारतीय मांगें कुछ अंशों में ही पूरी होतीं। उसमें कहा गया था कि भारत के शासन-विधान का विकास इस तरह किया जाय कि वह एक संघ राज्य बन सके; लेकिन यह एक बहुत दूर की बात थी। केन्द्र में तो सारे अधिकार वाइसराय के हाथ में देने की बात कही गई थी। उसे ही अपने मन्त्रि-मण्डल के मन्त्रियों की नियुक्ति का अधिकार दिया गया था और वह किसी भी प्रकार जनता के प्रति उत्तरदायी नहीं था। ब्रिटिश पार्लमेन्ट्री प्रणाली भी भारत पर थोपने की सिफारिश की गई थी, जो जबरदस्त अशिक्षा के होते हुए व्यर्थ-सी थी। अब भारतीय जनता को गोलमेज परिषद् से भी कोई आशा नहीं थी। वह अपना संघर्ष चालू रखना ही उचित समझने लगी।

आन्दोलन की व्यापकता

आन्दोलन में जिस कार्यक्रम को अपनाया गया था उसमें काफी सफलता प्राप्त हुई। विदेशी कपड़े का बहिष्कार तो इतना सफल रहा कि इतनी सफलता की आशा ही पहले नहीं की गई थी। बंगाल, बिहार और उड़ीसा में नवम्बर १९३० तक उसका आयात ९५ प्रति शत कम हो गया। कर-बन्दी आन्दो-

लन को सफल बनाने में उत्तर-प्रदेश, पंजाब और गुजरात प्रान्त ने बड़ा भारी काम किया। मध्यप्रदेश में जंगल का सत्याग्रह बड़ा शानदार रहा। पश्चिमोत्तर सीमान्त-प्रान्त में खुदाई-खिदमतगारों ने अहिंसक एवं अनुशासित ढंग से आन्दोलन का बड़ा सुन्दर संचालन किया। कांग्रेस के स्वयंसेवकों ने घायलों को अस्पताल पहुँचाने में बड़ी तत्परता दिखाई। लेकिन इन सबसे भी बड़ी बात थी स्त्रियों की जाग्रति। इस आन्दोलन में पहली बार एक बड़ी संख्या में स्त्रियां पर्दा छोड़कर मैदान में आईं और उन्होंने आन्दोलन में पुरुषों के साथ-साथ काम किया। शराब तथा कपड़ों की दूकानों पर धरना देने में उन्होंने बड़ा महत्वपूर्ण कार्य किया। इस बार सीमाप्रान्त को छोड़कर शेष स्थानों के मुसलमानों ने बहुत कम सहयोग दिया। वे नौकरशाही के साथ मिल कर उसकी कृपा प्राप्त करने के ही प्रयत्न करते रहे। उनके बिना ही काफी अर्से तक यह आन्दोलन सफलतापूर्वक चलता रहा।

: १८ :

समझौता और उसके बाद

क्रान्तिकारी हलचलें

साइमन-कमीशन के बहिष्कार के समय से ही क्रान्तिकारी हलचलें देश में प्रारंभ हो गई थीं। लालाजी की मृत्यु का बदला लेने के लिए लाहौर में साँडर्स की हत्या, असैम्बली में बम, तथा हैदराबाद से दिल्ली आते समय वाइसराय की गाड़ी को बम से उड़ाने के प्रयत्नों का उल्लेख पिछले एक अध्याय में किया जा चुका है। लाहौर षड्यन्त्र में पकड़े गए अभियुक्त श्री यतीन्द्रनाथ दास ने जेल के दुर्व्यवहार के परिणामस्वरूप ६२ दिन तक उपवास रख-कर प्राण त्याग दिये। सविनय-अवज्ञा-आन्दोलन के प्रारंभ हो जानेपर तो इस प्रकार की हलचलें और तेजी से शुरू हुईं। इन दिनों की क्रान्तिकारी घटनाओं में चटगांव शस्त्रागार-काण्ड काफी प्रसिद्ध है। सन् १९३० के अप्रैल मास में श्री सूर्यकुमार सेन के नेतृत्व में चटगांव के ७४ नवयुवकों ने एक-

साथ पुलिस लाइन, टेलीफोन एक्सचेन्ज आदि पर आक्रमण कर दिया। ये लोग चार टुकड़ियों में बंटे हुए थे। एक ने तार काट दिये, दूसरी ने रेलवे लाइन तोड़ दी, तीसरी ने एफ०आर० क्वार्टर्स में पहुँच कर उसके सर्जन, मेजर, सन्तरी आदि को मार डाला और शस्त्रास्त्रों पर कब्जा कर लिया और चौथी ने पुलिस लाइन पर आक्रमण करके वहां भी हत्याएं कीं, शस्त्रास्त्र लूट लिये। जब मुकाबले के लिए सैनिक टुकड़ियां आईं तो ये लोग पहाड़ी पर भाग गए और वहां गुरिल्ला युद्ध प्रारंभ कर दिया। इस युद्ध में १६ युवक काम आये। अन्त में, यद्यपि पुलिस उन्हें दबाने में सफल हो गई तथापि बहुत से युवक भाग गए और अन्य स्थानों पर क्रान्तिकारी कार्य करते रहे।

इधर महात्मा गांधी की गिरफ्तारी के बाद शोलापुर में विद्रोह होगया। लोगों ने सारे शहर को अपने कब्जे में कर लिया। अंग्रेजी हुकूमत कुछ समय के लिए समाप्त हो गई। जब बम्बई से सहायता पहुंची तब कहीं शान्ति की स्थापना की जा सकी। मजदूरों ने इन हलचलों में बड़ा जबरदस्त भाग लिया। बम्बई की ८० मिलों में से ४० मिलों में हड़ताल रही। लगभग ५७००० मजदूरों ने इनमें भाग लिया और जी०आई०पी० रेलवे तथा बी०बी० एण्ड सी०आई० रेलवे के कर्मचारी भी उनके साथ मिल गए। व्यापारिक मन्दी ने इन हलचलों को और गति दे दी। किसान और मजदूरों की सहानुभूति भी इसके साथ हो गई। परिणामस्वरूप सन् १६३० के अन्त में तो स्थिति इतनी बिगड़ी कि कठिनाई से ही कोई सप्ताह ऐसा बीतता था जिसमें किसी अंग्रेज अधिकारी पर बम नहीं फैंका जाता या किसी अधिकारी की खबर नहीं ली जाती।

सप्रू-जयकर वार्ता

आंदोलन की तीव्र गति से चारों ओर बेचैनी थी। खास कर धनी और पूंजीपति लोग अब यह चाहने लगे थे कि आंदोलन बन्द हो तो अच्छा रहे। अतः नरम विचार के नेता श्री तेजबहादुर सप्रू और डा० जयकर ने समझौता-वार्ता प्रारम्भ की। वह चाहते थे कि सरकार और कांग्रेस में कोई समझौता हो जाय ताकि वह गोलमेज परिषद् में सम्मिलित हो सके। अतः उन्होंने कांग्रेस के बड़े-बड़े

नेताओं और वाइसराय से बातचीत प्रारम्भ की। कांग्रेस की ओर से समझौते की शर्तें पेश की गईं। यद्यपि सरकार समझौता करने के लिए उत्सुक थी तथापि कांग्रेस की ओर से रखी गई शर्तें उसके लिए इतनी कड़ी थीं कि वह उन्हें स्वीकार नहीं कर सकती थी। अतः वाइसराय ने उन शर्तों के आधार पर समझौता-वार्ता को आगे चलाने से इंकार कर दिया। फिर भी वाइसराय ने प्रांतों की सरकारों को लिखा कि वह राजनैतिक बंदियों की रिहाई के प्रश्न पर उदारता पूर्वक विचार करें और उन्हें धीरे-धीरे मुक्त कर दें।

पहली गोलमेज कांफ्रैंस

१२ नवम्बर १६३० से लण्डन में पहली गोलमेज परिषद् प्रारम्भ हुई। समझौता-वार्ता असफल होने पर कांग्रेस तो उसका बहिष्कार कर चुकी थी। अतः उसके प्रतिनिधियों के बिना ही परिषद् की कार्यवाही प्रारम्भ हुई। कांफ्रैंस में देशी राज्यों के १६, ब्रिटिश भारत के ५७ तथा सम्राट सरकार के १६ प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। कांफ्रैंस का एकमात्र परिणाम यह हुआ कि मजदूर-सरकार को यह निश्चय हो गया कि भारत एक स्वर से औपनिवेशिक स्वराज्य की मांग कर रहा है। संघ-राज्य का विचार भी सब प्रतिनिधियों ने पसन्द किया लेकिन मुसलमान प्रतिनिधियों ने बार-बार अपनी संरक्षणों और विशेष अधिकारों की मांग की, जिसे हिन्दू-प्रतिनिधि स्वीकार नहीं कर सकते थे। अतः श्री सुभाषचंद्र बोस के शब्दों में इस कांफ्रैंस के परिणाम-स्वरूप "भारत को दो कड़वी गोलियाँ देने के लिए हाथ बढ़ाया गया—(Safeguards) संरक्षण और संघ-राज्य। इन कड़वी गोलियों को खाने योग्य बनाने के लिए 'उत्तरदायित्व' की शक्कर उनके ऊपर लपेट दी गई थी।" कांग्रेस की अनुपस्थिति में यह कांफ्रैंस एक तमाशा बनकर समाप्त हो गई।

गांधीजी तथा अन्य नेता मुक्त हुए

बिना कांग्रेस की उपस्थिति के कोई समझौता संभव ही नहीं था। अतः वाइसराय ने कांग्रेस के प्रति नरम रुख इख्तियार किया और सन् १६३१ की २५ जनवरी को गांधीजी तथा कार्यसमिति के १६ सदस्यों को रिहा कर देने की आज्ञा दी और कार्यसमिति पर से सारी रोक उठा ली गई, ताकि वह प्रधान-मंत्री के १६ जनवरी के वक्तव्य को दृष्टि में रख कर नई

स्थिति पर विचार-विनिमय कर सकें। पं० मोतीलाल नेहरू इन दिनों बीमार थे। अतः उनके घर बैठक हुई और यह निश्चय किया गया कि समझौता कर लिया जाय। अतः सारी कांग्रेस कमेटियों को यह आदेश दिया गया कि वह सत्याग्रह की हलचलें बंद कर दें। इसी बैठक में गांधीजी को कांग्रेस की ओर से वाइसराय से समझौता करने का अधिकार भी दियाग या। इन्हीं दिनों एक बड़ी दुखद घटना हुई। पं० मोतीलाल नेहरू ६ फरवरी को स्वर्गवासी हो गए। उनके निधन से सारे देश में शोक छागया।

गांधीजी ने १७ फरवरी के दिन वाइसराय से बातचीत प्रारंभ की। बातचीत ५ मार्च तक चलती रही। अन्त में गांधी-इरविन पैक्ट हुआ, जिसमें ये बातें तय हुईं :

गांधी-इरविन समझौता

१. सविनय-अवज्ञा-आन्दोलन स्थगित कर दिया जाय।

२. शासन विधान के प्रश्न पर उसी योजना पर आगे विचार होगा जिस पर पहली गोलमेज परिषद् में हुआ था किन्तु उसमें मुख्य बातें ये होंगी : (अ) शासन-विधान का स्वरूप संघीय होगा; (ब) केन्द्र में उत्तरदायित्व रहेगा, (स) विदेशी नीति, रक्षा आदि भारत के हित की दृष्टि से रखे जायंगे।

३. पुलिस के अत्याचारों की जांच का आग्रह नहीं रखा जायगा। लेकिन सरकार की ओर से दमन बन्द कर दिया जायगा, आर्डिनेन्स नं० १ के अतिरिक्त सारे आर्डिनेन्स वापिस ले लिये जायंगे, और मुकदमे उठा लिये जायंगे।

४. हिंसात्मक अपराध करने वाले बन्दियों के अलावा शेष सब सत्याग्रही मुक्त कर दिये जायंगे।

५. जुर्माने माफ कर दिये जायंगे लेकिन जो वसूल हो चुके हैं, वे नहीं लौटाये जायंगे। जब्त की हुई जायदाद लौटा दी जायगी।

६. जहां नमक बन सकता है, वहां अपने लिए या गांव में बेचने के लिए नमक बनाया जा सकेगा

७. विदेशी वस्त्र के बहिष्कार का राजनैतिक रूप हटा लिया जायगा; लेकिन शराब और विदेशी वस्त्र की दूकान पर कानून की सीमा में धरना दिया जा सकेगा।

८. आन्दोलन के सिलसिले में जिस कानून के द्वारा संस्थाओं को गैर-कानूनी घोषित किया गया है, उन्हें वापिस ले लिया जायगा।

इस समझौते को लेकर कुछ क्षेत्रों में गांधीजी और कार्य-समिति की बड़ी कड़ी आलोचना हुई। यह कहा गया कि औपनिवेशिक स्वराज्य के आधार पर बातचीत करने के लिए तैयार होना अपने पूर्ण स्वराज्य के आदर्श से गिर जाना है। यह भी कहा गया कि गांधीजी ने पूँजीपतियों के असर में आकर सरकारी कड़ी शर्तें स्वीकार कर ली हैं। जब आन्दोलन सफलता पूर्वक आगे बढ़ता जारहा था तब उसे बन्द कर देना एक प्रतिगामी कदम था। लेकिन गांधीजी ने कहा कि इस समझौते से दोनों पक्षों की विजय हुई है। इससे अधिक उनके द्वारा किये हुए इस समझौते पर कार्यसमिति ने अपनी स्वीकृति की मुहर भी लगाई, कुछ भी हो, इस समझौते में कांग्रेस की विजय इस अर्थ में तो थी ही कि सरकार कल तक जिस संस्था को गैर-कानूनी मानती थी आज उसीके साथ समझौता करने के लिए विवश हो गई थी। दूसरे इस समझौते का इस दृष्टि से भी बड़ा महत्व है कि यह कांग्रेस और सरकार के बीच होने वाला पहला समझौता था।

भगतसिंह को फांसी

पहले कहा जा चुका है कि सॉंडर्स की हत्या और असेम्बली में बम फेंकने में भगतसिंह का हाथ था। वह गिरफ्तार हुए और मुकद्मा चलने के बाद उनको फांसी की सजा हो गई। इस खबर से सारे देश में क्षोभ फैल गया। भगतसिंह का सम्बन्ध क्रान्तिकारी कार्यों से भले ही हो लेकिन उनकी देश-भक्ति पर सारे देश को गर्व था और सब चाहते थे कि उनको यह सजा न दी जाय। गांधी-इरविन समझौते के दिनों में गांधीजी ने इस प्रश्न पर भी वाइसराय से बातचीत की और कहा कि उन्हें फांसी के अलावा और कोई सजा दी जाय, लेकिन वाइसराय ने बारबार इस प्रश्न को यह कह कर टाला कि मैं इस सम्बन्ध में पंजाब सरकार को लिखूंगा। गांधीजी के जोर देने पर उन्होंने कराची कांग्रेस तक फांसी रुकवाने का आश्वासन भी देने का प्रयत्न किया लेकिन गांधीजी को यह बात पसन्द नहीं आई। उन्होंने कहा : "यदि इन नौजवानों को फांसी पर लटकाना ही है तो अधिवेशन के पहले ही

ऐसा करना ठीक होगा। इससे देश को यह पता चल जायगा कि उसकी स्थिति क्या है और लोगों के दिल में झूठी आशाएं नहीं बंधेगी।" २३ मार्च को भगतसिंह और उनके साथियों को फांसी दे दी गई। इस खबर से देश में जबरदस्त शोक छा गया।

करांची कांग्रेस

इसी क्षोभ के वातावरण में २५ मार्च सन् १६३१ को कांग्रेस का अधिवेशन कराची में हुआ। सभापति वल्लभभाई पटेल थे। जब गांधीजी कराची पहुंचे तो युवक-दलों ने अपना रोष गांधीजी को काले फूल और काली मालाएं भेंट कर तथा उन्हें काले झण्डे दिखा कर किया। उनका कहना था कि गांधीजी यदि जोर देते तो भगतसिंह तथा उनके साथियों की फांसी स्थगित हो सकती थी। इधर भगतसिंह की फांसी के प्रश्न को लेकर सारे देश में हड़तालें हुईं और सभाओं तथा जलूसों का तांता लग गया। इसी सिलसिले में कानपुर में एक भयंकर हिन्दू-मुस्लिम दंगा हो गया और उसमें श्री गणेशशंकर विद्यार्थी शहीद हो गए। विद्यार्थीजी उत्तर-प्रदेश के ऐसे उच्चाशयी देशभक्त और उदीयमान नेता थे कि उनकी मृत्यु ने अधिवेशन में बड़ा शोक फैला दिया। लोगों में बड़ा जोश था। लेकिन गांधीजी ने उस जोश को यह कह कर बहुत कुछ ठण्डा कर दिया कि हमारे कष्ट सहन करने की एक सीमा है। उससे आगे हम उसके लिए तैयार नहीं होंगे। साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि हिंसा से विनाश ही होगा स्वराज्य नहीं मिल सकता। कांग्रेस में गांधी-इरविन समझौता स्वीकार कर लिया गया। कांग्रेस में अनेक प्रस्ताव पास हुए जिनमें सत्याग्रहियों के अभिनन्दन, साम्प्रदायिक दंगों की निन्दा, शराबबन्दीकी प्रशंसा, खद्दर-प्रचार का समर्थन तथा शराब तथा विदेशी कपड़ों की दूकानों पर धरना देने की सिफारिश के प्रस्ताव प्रमुख थे। मौलिक अधिकारों के सम्बन्ध में भी एक प्रस्ताव पास हुआ। गांधीजी ने कांग्रेस के प्रतिनिधियों के रूप में दूसरी गोलमेज परिषद् में जाना स्वीकार कर लिया।

इधर १८ अप्रैल को लार्ड इरविन गये और उनके स्थान पर लार्ड विलिंगडन वाइसराय बनकर भारत आये। इस परिवर्तन से सरकारी-नीति

में भी परिवर्तन हो गया। नये वाइसराय लार्ड विलिंगडन इस समझौते और कांग्रेस के प्रति सरकार के बदले हुए दृष्टिकोण को पसन्द नहीं करते थे। कांग्रेस की ओर से तो समझौते का पालन किया जा रहा था लेकिन सरकार ने अपना रुख कड़ा कर लिया। गांधीजी ने उन सारी बातों की एक सूची बनाई जिनके द्वारा सरकार ने स्थान-स्थान पर समझौता भंग किया था और उसे वाइसराय के पास भेजा। सन्तोषजनक उत्तर मिलने के स्थान पर वाइसराय ने एक ऐसी सूची भेजी जिसमें जगह-जगह कांग्रेस की ओर से समझौता भंग होने की बातें थीं। गांधीजी ने लिखा कि इसकी जांच निष्पक्ष अदालत बैठा कर करवाई जाय। लेकिन वाइसराय ने इसे स्वीकार नहीं किया। इसी तरह राष्ट्रीय मुसलमानों के प्रतिनिधि के रूप में डा० अंसारी को गोलमेज परिषद् में नामजद करना भी अस्वीकार कर दिया गया। लार्ड इरविन यह बात स्वीकार कर चुके थे। अतः गांधीजी को इन सब बातों से बड़ी चोट लगी और उन्होंने गोलमेज परिषद् में जाने से इंकार कर दिया। अब वाइसराय घबराये। उन्होंने फिर गांधीजी से बात-चीत प्रारम्भ की और बारडोली के मामले में जांच करवाने का आश्वासन दिया। उन्होंने गांधीजी को गोलमेज परिषद् में भाग लेने के लिए तय्यार कर लिया। गांधीजी इंग्लैंड गये लेकिन बहुत आशा लेकर नहीं। इन सारी बातों ने उन्हें निराश और उदास बना दिया था।

दूसरी गोलमेज परिषद्

कांग्रेस के प्रतिनिधि के रूप में गांधीजी गोलमेज परिषद् में सम्मिलित हुए। उनके साथ पं० मदनमोहन मालवीय और श्रीमती सरोजिनी नायडू भी थीं। गांधीजी ने दावा किया कि एकमात्र कांग्रेस ही भारत का प्रतिनिधित्व करनेवाली संस्था है। उन्होंने बड़े मार्मिक और प्रभावशाली शब्दों में भारत को पूर्ण स्वतन्त्रता देने की अपील की। लेकित परिषद् के अन्य सारे सदस्य सरकार द्वारा नामजद थे। वे अंग्रेजों के बहकावे में आकर अपनी-अपनी जातियों के हित की ही बात कह रहे थे। अपनी-अपनी ढपली अपना-अपना राग वाली कहावत चरितार्थ हो रही थी। परिणाम यह हुआ कि कोई सर्व-सम्मत हल नहीं निकल सका। प्रत्येक विषय में सर्वसम्मत निर्णय के लिए सरकार

का मुँह ताकना पड़ा। अल्पसंख्यकों के प्रश्न को हल करने में बहुत-सा समय लग गया। लेकिन समस्या नहीं सुलझी। गांधीजी ने बहुत कोशिश की कि सरकार की ओर से कोई निश्चित आश्वासन मिले लेकिन कोई परिणाम नहीं निकला। अन्त में वह खाली हाथ लौट आये।

फिर सविनय-अवज्ञा-आंदोलन और दमन

पहली दिसम्बर को गोलमेज परिषद् समाप्त हुई। गांधीजी ६ दिसम्बर को भारत के लिए रवाना हुए। वह २८ दिसम्बर को भारत आये। सरकार को यह भय था कि वह आते ही आंदोलन प्रारम्भ कर देंगे। अतः बम्बई आते ही उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। उनकी समझौते की वृत्ति से कांग्रेस के बहुत से उग्र नेता असन्तुष्ट थे लेकिन इस गिरफ्तारी ने स्थिति बदल दी। सारे देश में जोश की लहर फैल गई। चारों ओर फिर आन्दोलन प्रारम्भ हो गया। सभी बड़े-बड़े नेता गिरफ्तार कर लिये गए और उन्हें लम्बी-लम्बी सजाएं दे दी गईं। सरकार ने कांग्रेस को गैर-कानूनी घोषित कर दिया और उसके कार्यालयों, कागजपत्रों तथा रुपयों को जब्त कर लिया। दमन के लिए इतने कड़े-कड़े कानून बनाये गए कि किसी भी व्यक्ति को सन्देह मात्र पर ही गिरफ्तार किया जा सकता था। समाचार-पत्रों पर कड़ा सेंसर बिठा दिया गया ताकि वह आंदोलन के संबंध में कोई समाचार प्रकाशित न कर सकें। जगह-जगह पुलिस और सेना के दस्ते तैनात कर दिये गए ताकि वह जनता पर आतंक बनाये रहें। सामूहिक जुर्माने, कालेपानी की सजा, लाठी-चार्ज, गोली साधारण-सी बातें बन गईं। इन अत्याचारों और कड़ाई के द्वारा सरकार जनता का उत्साह ठंडा कर देना चाहती थी लेकिन इन तरीकों से यह सब संभव नहीं था। हाँ, सरकार की फूट-नीति ने देश को बड़ी हानि पहुंचाई। उसने मुस्लिम-लीग को अपनी तरफ मिला लिया। जगह-जगह हिंदू-मुस्लिम दंगे होने लगे और मुसलमानों ने बहिष्कार का पूरा विरोध किया। लेकिन इस सबके बावजूद आंदोलन २९ महीनों तक चलता रहा और सरकार का यह खयाल, कि वह २-४ सप्ताह में आंदोलन को समाप्त कर देगी, हवा हो गया।

पूना-पैक्ट

जब आन्दोलन चल ही रहा था तब ८ अगस्त सन् १६३२ को प्रधान-मन्त्री श्री मैकडानल्ड ने साम्प्रदायिक बँटवारे के सम्बन्ध में घोषणा की। ऊपर कहा जा चुका है कि गोलमेज परिषद् में अल्प-संख्यकों की समस्या विकट रूप धारण कर चुकी थी। इस संबंध में वहीं गांधीजी को यह आभास मिल गया था कि सरकार इस प्रश्न को हल करने के नाम पर साम्प्रदायिक निर्वाचन वाली पद्धति को अपनाने वाली है और सवर्णों और अवर्णों में एक बड़ी खाई डालने वाली है। अतः गांधीजी ने वहीं कह दिया था कि मैं अस्पृश्यता के जिंदा रहने के बजाय हिंदू धर्म का मर जाना अधिक पसन्द करूंगा। यदि अस्पृश्यों को हिन्दू जाति से अलग करने का प्रयत्न किया गया तो मैं अपने प्राणों की बाजी लगा दूँगा लेकिन श्री मैकडानल्ड की घोषणा ने वही बात सामने ला दी। क्योंकि अछूतों को पृथक् निर्वाचन पद्धति के आधार पर विशेष संरक्षण प्रदान किया गया था। गांधीजी को इस चाल से बड़ी चोट लगी और उन्होंने यरवदा जेल से ही १८ अगस्त के दिन प्रधान-मंत्री को पत्र लिखा कि यदि उन्होंने इस घोषणा को नहीं बदला तो वह २० अगस्त से अनशन प्रारंभ कर देंगे।

इस निश्चय से देश-विदेश में बड़ी हलचल मची। सभी बड़े-बड़े नेता चिन्तित हुए। सोचने लगे कि गांधीजी की जान किस प्रकार बचाई जा सकती है। मालवीयजी ने बम्बई में एक परिषद् बुलाई, जिसमें अछूतों के नेता डाक्टर अम्बेडकर, राजाजी, राजेन्द्र बाबू, घनश्यामदासजी बिड़ला तथा अन्य नेता सम्मिलित हुए। शीघ्र ही ये लोग पूना गये और विचार-विनिमय प्रारम्भ हुआ। विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर भी पूना आये। सब-ने मिलकर जल्दी ही समस्या का हल ढूँढ़ने का प्रयत्न किया। २४ दिसम्बर के दिन उन्होंने एक सर्व-सम्मत निश्चय किया। इसी निश्चय को 'पूना-पैक्ट' कहा जाता है। देशबन्धु एण्ड्रयूज ने इस समझौते को प्रधान-मन्त्री से मंजूर करवाने में बड़ी शीघ्रता करवाई। जब प्रधान-मन्त्री, हरिजन नेताओं तथा देश के अन्य बड़े नेताओं ने स्वीकार कर लिया तो २६ ता० को गांधीजी ने अनशन भंग कर दिया। इस समझौते के द्वारा हरिजनों को

उनकी मांग से भी अधिक सुविधाएं मिल गईं और उनमें तथा सवर्ण हिन्दुओं में एकता पैदा करने की दिशा में बड़ी प्रगति हुई। इस समझौते के अनुसार :

१. प्रान्तीय धारा-सभाओं में अस्पृश्यों को सरकारी घोषणा में दिये हुए ७१ स्थानों के बजाय १४८ स्थान दिये गए।

२. अमुस्लिम मतदाताओं को केन्द्रीय धारा-सभा में जो स्थान दिये गए थे उनमें अस्पृश्यों के लिए एक निश्चित प्रतिशत की संख्या तय कर दी गई।

३. सम्मिलित निर्वाचन का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया गया।

४. यह तय हुआ कि हरिजनों को विशेष संरक्षण देने की यह व्यवस्था १० वर्ष के बाद बदली जा सकेगी।

५. सरकारी नौकरियों में भी हरिजनों को उचित स्थान दिये जायंगे।

इस समझौते ने बड़ा अच्छा वातावरण तय्यार किया। बहुत से मन्दिर और कुएं हरिजनों के लिए खोले जाने लगे और हरिजनों की उन्नति के लिए 'हरिजन-सेवक-संघ' संस्था का उदय हुआ।

सत्याग्रह स्थगित कर दिया गया

पूना-पैक्ट से अस्पृश्यता-निवारण का आंदोलन तो जोर से चल पड़ा लेकिन इधर सत्याग्रह-आंदोलन में शिथिलता आने लगी। इन्हीं दिनों लन्दन में तीसरी गोल-मेज परिषद् प्रारम्भ हुई। देश-भक्त नेता जेलों में बन्द थे और प्रतिक्रियावादी सरकार-परस्त परिषद् में भाग ले रहे थे। अतः चारों ओर उदासी-सी छाई दिखाई देती थी। फिर भी आंदोलन चलता रहा। इस शिथिलता को गांधीजी ने अपने उपवास की घोषणा से भंग किया। उन्होंने १ मई १९३३ के दिन घोषणा की कि वह ८ मई से हरिजनों के सम्बन्ध में जनता की कर्तव्य-बुद्धि को जाग्रत करने के लिए २१ दिन का उपवास प्रारम्भ करेंगे। उन्होंने कहा कि यह उपवास आत्म-शुद्धि-मूलक है। सरकार ने उन्हें रिहा कर दिया। रिहाई के बाद उन्होंने एक वक्तव्य निकाल कर कहा कि मेरे उपवास के तीन सप्ताहों में सत्याग्रही बड़े चिन्तित रहेंगे। अतः यदि कांग्रेस के सभापति उसे ६ सप्ताह के लिए स्थगित

करदें तो अच्छा। सभापति श्री अणे ने आंदोलन ६ सप्ताह के लिए स्थगित कर दिया। सारे देश की आँखें गांधीजी की ओर लग गईं। लेकिन उपवास अच्छी तरह पूरा हो गया।

सत्याग्रह को इस प्रकार से थोड़े ही समय के लिए क्यों न हो, स्थगित करना कुछ लोगों को अच्छा नहीं लगा। सुभाष बाबू इन दिनों वियाना में थे। उन्होंने कहा कि "सत्याग्रह को स्थगित करना मानो उसकी असफलता को स्वीकार करना है। एक राजनैसिक नेता के रूप में गांधीजी असफल सिद्ध हुए हैं।" अतः इस स्थिति पर विचार करने के लिए कांग्रेसियों की एक बैठक पूना में बुलाई गई। बैठक में यह तय हुआ कि अब सार्वजनिक सत्याग्रह देश के लिए उपयुक्त नहीं है; कुछ चुने हए लोग ही सत्याग्रह करें। अतः अगस्त १६३३ से व्यक्तिगत सत्याग्रह प्रारंभ हुआ। गांधीजी ने साबरमती आश्रम को भंग कर दिया और आश्रम-वासियों से कहा कि वे सब कुछ छोड़कर आंदोलन में कूद पड़ें। आश्रम का सामान और भूमि हरिजन-आंदोलन के लिए दे दिया गया। गांधीजी गिरफ्तार हो गए। लेकिन उन्होंने जेल में हरिजन-कार्य की सुविधा न मिलने के कारण फिर अनशन शुरू कर दिया। सरकार ने इनको छोड़ दिया। गांधीजी ने सजा का शेष समय हरिजन-कार्य करने में व्यतीत करने का तय किया। आंदोलन चलता रहा लेकिन देश में जो शिथिलता आगई थी वह नहीं मिटी। अब फिर से कौंसिल-प्रवेश की आवाज उठने लगी। ३१ मार्च को डा० अंसारी के सभापतित्व में दिल्ली में एक बैठक बुलाई गई। बैठक में तय हुआ कि स्वराज्य पार्टी का काम फिर शुरू किया जाय। गांधीजी ने अनुभव किया कि अब आंदोलन को चालू रखना ठीक नहीं है। अतः पटना में कार्य-समिति की बैठक में उनकी सिफारिश पर सत्याग्रह स्थगित कर दिया गया और जो लोग स्वराज्य-पार्टी बनाना चाहते थे उनका एक पार्लमेंट्री बोर्ड बना दिया गया।

सन् १६३४ में २७ और २८ अक्तूबर को बम्बई में कांग्रेस का अधिवेशन डा० राजेन्द्रप्रसाद की अध्यक्षता में हुआ। उनका भाषण छोटा किन्तु प्रभावशाली था। इन्होंने सत्याग्रह के महत्व पर प्रकाश डाला और

कहा कि वह एक अद्वितीय शस्त्र है। यद्यपि सत्याग्रह की लड़ाई में हमें कुछ रुकना पड़ा है तथापि उसमें पराजय नाम की चीज है ही नहीं। इस अधिवेशन में सबसे महत्वपूर्ण चीज थी गांधीजी का कांग्रेस से त्यागपत्र। इस प्रश्न को लेकर अधिवेशन में बड़ी हलचल रही। कांग्रेस के विधान में भी परिवर्तन किये गए। अब प्रतिनिधियों की संख्या दो हजार निश्चित कर दी गई और सभापति को अपनी कार्य-समिति के सदस्यों को नामजद करने का अधिकार दे दिया गया। गांधीजी के नेतृत्व में विश्वास का प्रस्ताव भी पास हुआ। उनसे अनुरोध किया गया कि वह अपने त्यागपत्र पर फिर से विचार करें। लेकिन गांधीजी ने कांग्रेस की चार आने की सदस्यता से भी त्यागपत्र दे दिया। इस सम्बन्ध में डा० पट्टाभि सीतारामैय्या ने लिखा है: "किन्तु यह एक ऊपरी चीज थी। कारण कि गांधीजी एक शक्ति हैं। ऐसी शक्ति जो अपने-आपको सिकोड़ कर एक केन्द्र में संकुचित हो जाती है। जहां अत्यधिक दबाव में उसका आयतन घनीभूत हो जाता है किन्तु किसी दूसरे समय में वह अप्रत्याशित घटनाओं में रूपान्तरित होकर एक विस्तृत क्षेत्र में छा जाती है।" त्यागपत्र देने पर भी गांधीजी का असर कांग्रेस पर बना रहा।

बम्बई अधिवेशन

इस समय तक गांधीजी राजनीति पर पूरी तरह छा गए थे लेकिन गांधी-वाद के उच्च आदर्शों को व्यावहारिक रूप देने में साधारण व्यक्ति को जो कठिनाई अनुभव होती थी उससे कुछ-कुछ स्वतंत्र विचार के निर्भीक व्यक्ति उनके तरीकों के विरुद्ध आवाज उठाने लगे थे। गांधीजी का त्यागपत्र इसीका परिणाम था। पं० जवाहरलाल नेहरू, सुभाषचन्द्र बोस तथा कुछ अन्य व्यक्तियों ने उन दिनों कांग्रेस की नीति की बड़ी आलोचना की। श्री के० एफ० नरीमेन ने, जो उन दिनों कांग्रेस कार्य-समिति के सदस्य थे, यहां तक कह दिया कि वह बहुत बड़ी-बड़ी भूलें कर रहे हैं। हमको उनके नेतृत्व से मुक्ति ले लेनी चाहिए। इधर कांग्रेस के अंदर समाजवादी दल का भी निर्माण हुआ। इस दल में कांग्रेस के वे लोग थे, जिन्होंने मार्क्सवाद

प्रतिक्रिया

का अध्ययन किया था और जो यह अनुभव करने लगे थे कि गांधीजी की अहिंसा की नीति देश के लिए हितकर नहीं है। अपने पटना-अधिवेशन में इस दल ने अपना एक विधान और कार्यक्रम बनाया और उसके अनुसार कार्य करना प्रारम्भ किया। सन् १९४६ में यह दल कांग्रेस से अलग हो गया। इसी प्रकार साम्यवादी दल भी इन्हीं दिनों शक्तिशाली बनता जा रहा था।

साम्प्रदायिक आधार पर अभी-अभी जिस पृथक् निर्वाचन की घोषणा की गई थी उससे भी बहुत से लोग असंतुष्ट थे। भारतीय राष्ट्रीयता के लिए वह कड़वी गोली थी लेकिन गांधीजी उस संबंध में चुप थे। न तो कांग्रेस ने उसे स्वीकार किया न अस्वीकार। पं० मदनमोहन मालवीय और श्री अणे इसके विरोध में थे। सारे हिंदू-नेता इसका विरोध कर रहे थे और मुसलमान उसका पक्ष ले रहे थे। बंगाली हिंदुओं को तो उससे बहुत हानि पहुँचती थी। अतः वह उसका जोरदार विरोध कर रहे थे। स्थिति इतनी बिगड़ी कि इस प्रश्न को लेकर मालवीयजी और श्री अणे ने कांग्रेस से त्याग-पत्र देकर एक अलग दल का निर्माण किया। धारा-सभाओं का बहिष्कार करके यह प्रसंग टाला जा सकता था। लेकिन जैसी स्थिति बन गई थी उसमें यह संभव नहीं था।

: १९ :

प्रांतीय स्वशासन और कांग्रेस में दो दल

सन् १९३५ का एक्ट

अब इंग्लैंड में तीसरी गोलमेज परिषद का नाटक प्रारंभ हुआ, लेकिन देश के प्रगतिशील लोगों को उससे कोई आशा नहीं थी। सरकार अपना काम करती रही। सन् १९३३ के मार्च मास में सम्राट की सरकार ने भावी शासन-विधान की रूप-रेखा प्रकाशित की। भारत तो इससे उदासीन था ही। नरम दल के लोगों ने भी इस रूपरेखा की आलोचना की। उधर सम्राट की सरकार ने शासन-विधान की इस नई रूपरेखा पर विचार करने के लिए एक

का अर्थ होगा आत्मसमर्पण और हार। समाजवादियों ने, जिनके नेता आचार्य नरेन्द्र देव और जयप्रकाश नारायण थे, पदग्रहण का कड़ा विरोध किया और वे बैठकों में से उठ कर चले गए। यहां तक कि उन्होंने महासमिति से भी त्यागपत्र तक दे दिया; लेकिन विरोधी दल काफ़ी शक्तिशाली था। इस के प्रमुखनेता थे सरदार वल्लभभाई पटेल, डा० राजेन्द्रप्रसाद, राजाजी, भूलाभाई देसाई। इनको गांधीजी का समर्थन प्राप्त था। वह यद्यपि कांग्रेस की चार आने की सदस्यता भी छोड़ चुके थे तथापि उनका प्रभाव बिलकुल नहीं घटा था। परिणाम यह हुआ कि इस प्रश्न पर कोई स्पष्ट निर्णय न हो सका।

चुनाव-घोषणा

अन्त में गांधीजी के प्रयत्न से इस विषय में दोनों दलों में समझौता हो गया और यह तय हुआ कि कांग्रेस चुनाव में भाग ले। सन् १९३७ के फरवरी मास में चुनाव होने वाले थे। अतः चुनाव की तैयारी प्रारंभ हो गई। कांग्रेस के चुनाव-घोषणा-पत्र पर विचार करने के लिए अगस्त मास में बम्बई में कांग्रेस महासमिति की बैठक हुई। घोषणा-पत्र पास होगया। उसमें कहा गया कि कांग्रेस सबसे पहले मद्यनिषेध, भूमि-व्यवस्था में सुधार, कर्ज घटाना और सस्ते ऋण को चालू करने का काम करना चाहती है। वह रहन-सहन के माप-दण्ड को ऊंचा करना और मजदूरों के काम के घण्टे घटाना चाहती है, इसी प्रकार की अन्य बातें भी घोषणा-पत्र में थीं।

फैजपुर कांग्रेस

कांग्रेस का अगला अधिवेशन इसी वर्ष २७-२८ दिसम्बर को महाराष्ट्र के फैजपुर नामक ग्राम में हुआ। इस बार अधिवेशन गांधीजी की सलाह से ग्राम में हो रहा था। सभापति जवाहरलालजी ही चुने गए। इस समय विश्व में युद्ध के बादल मंडराने प्रारंभ हो गए थे। इटली अबीसीनिया पर बलात्कार कर रहा था और स्पेन की दुर्दशा हो रही थी। नेहरूजी ने अपने भाषण में कहा कि फासिस्टवाद पर रोकथाम की जानी चाहिए। ये उसी के दुष्परिणाम हैं। हिन्दुस्तान की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए उन्होंने लखनऊ अधिवेशन की तरह यहां पर भी समाजवाद पर जोर दिया। इस अधिवेशन

में फिर पदग्रहण का प्रश्न उपस्थित हुआ। इसबार यह तय हुआ कि चुनाव हो जाने पर निर्वाचित कांग्रेसियों का एक सम्मेलन बुलाया जाय और उसमें यह प्रश्न तय किया जाय।

चुनाव और उसके परिणाम

फरवरी मास में चुनाव प्रारम्भ हुए। पं० नेहरू ने सारे देश का दौरा किया और मत-दाताओं से अपील की कि वह कांग्रेस के उम्मीदवारों को वोट दें। पिछले आंदोलनों के कारण कांग्रेस काफी लोकप्रिय बन चुकी थी। अतः कांग्रेस को भिन्न प्रान्तों में निम्नलिखित स्थान प्राप्त हुए :

प्रांत	कुल स्थान	कांग्रेस ने प्राप्त किये
मद्रास	२१५	१५६
संयुक्त-प्रांत	२२८	१३४
मध्य-प्रांत	११२	७०
बिहार	१५२	६५
उड़ीसा	६०	३६
बम्बई	१७५	८६
आसाम	१०८	३३
सीमा-प्रांत	५०	१६
बंगाल	२५०	५६
पंजाब	१७५	१८
सिंध	६०	८

इस चुनाव ने यह सिद्ध कर दिया कि मद्रास, संयुक्त-प्रांत, मध्य-प्रदेश, बिहार और उड़ीसा में कांग्रेस का स्पष्ट बहुमत है और बम्बई, बङ्गाल, सीमा-प्रांत व आसाम में उसके सदस्यों का ही सबसे बड़ा दल है। पंजाब और सिंध में वह अल्पमत में थी। मुस्लिम लीग भी चुनाव में खड़ी हुई थी। बम्बई में उसे २६ मुस्लिम स्थानों में से १०, मद्रास में २८ में से १०, आसाम में ३४ में से ६, बंगाल में ११७ में से ४४ और संयुक्त-प्रांत में ६४ में से २७ स्थान मिले। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह सफलता काफी कम थी। शेष प्रांतों में तो उसे कुछ भी सफलता नहीं मिली।

कांग्रेस की जबरदस्त विजय से यह स्पष्ट हो गया कि वही देश की सबसे बड़ी प्रतिनिधि संस्था है और जनता का उसमें पूर्ण विश्वास है।

वाइसराय की घोषणा और मन्त्रि-मण्डलों का निर्माण

चुनाव के बाद मंत्रि-मण्डल बनाने का प्रश्न सामने आया। पंजाब में श्री सिकन्दरहयातखाँ के दल का, बंगाल में श्री फजलुलहक के दल का तथा सिन्ध में श्री अल्लाबख्श के दल का बहुमत था। अतः इन प्रान्तों में इन दलों का मन्त्रि-मण्डल बन गया। कांग्रेस अभी निश्चय नहीं कर पाई थी कि उसे क्या करना चाहिए। अतः मार्च में दिल्ली में कांग्रेस महासमिति की बैठक हुई। बैठक में यह तय हुआ कि यदि गवर्नर लोग अपने विषेधाधिकार का प्रयोग न करें और वाइसराय इस बात की घोषणा सार्वजनिक रूप से कर दें तो कांग्रेस मन्त्रि-मण्डल बना सकती है। इधर वाइसराय झुकना नहीं चाहते थे लेकिन कांग्रेस की शक्ति के सामने आखिर उनको झुकना ही पड़ा। उन्होंने जून के तीसरे सप्ताह में एक वक्तव्य दिया और उसमें कहा : "व्यवहार में इस बात का कोई आधार नहीं है कि गवर्नर मन्त्रि-मण्डल की नीति में हस्तक्षेप करेंगे ही। प्रान्त के दैनिक शासन में मन्त्रियों के बिना मांगे वे कोई सलाह जबरदस्ती उन पर नहीं लादेंगे। वे न उनके काम में रुकावट डालेंगे न अनावश्यक रूप से अपने विशेषाधिकारों का प्रयोग करेंगे। गवर्नर लोग साधारणतः मन्त्रियों के परामर्श से ही काम करेंगे। लेकिन यदि किसी मामले में वे मन्त्रियों के परामर्श को न मानें तो उसकी जिम्मेदारी गवर्नरों पर ही रहेगी और मन्त्रियों को यह कहने का अधिकार होगा कि इस सम्बन्ध में जो फैसला हुआ है उसमें उनका कोई हाथ नहीं है।" इस घोषणा से स्थिति स्पष्ट हो गई। अब कांग्रेस ने शेष प्रांतों में मंन्त्रि-मण्डल बना लिये।

हरिपुरा कांग्रेस

सन् १९३८ की १९ फरवरी को हरिपुरा गुजरात में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। सभापति सुभाष बाबू चुने गए थे। देशभक्तों के लिए उनका व्यक्तित्व बड़ा आकर्षक था। सुभाष बाबू ने अपने भाषण में राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति पर प्रकाश डाला और कहा कि महायुद्ध का खतरा बढ़ता जा रहा

है। उन्होंने नये शासन-विधान की तीव्र निन्दा की। इस अवसर पर जिधर देखो उधर संयुक्त-प्रान्त और बिहार के मन्त्रि-मण्डलों के त्याग-पत्रों की चर्चा थी। इन दोनों प्रांतों के मन्त्रि-मण्डलों ने क्रांतिकारी कैदियों को मुक्त करने का जो प्रयत्न किया उसमें गवर्नरों ने हस्तक्षेप किया था। बस इसीलिए इन प्रांतों के मन्त्रि-मण्डलों ने त्याग-पत्र दे दिये थे। अब सीमा-प्रांत और आसाम में भी कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डल बन गए थे और कांग्रेस की शक्ति काफी बढ़ गई थी। अतः इस सम्बन्ध में एक प्रस्ताव पास हुआ। परिणाम यह हुआ कि सरकार को झुकना पड़ा। क्रांतिकारी कैदी छोड़ दिये गए। दोनों मन्त्रि-मण्डलों ने त्याग-पत्र वापिस ले लिये।

मन्त्रि-मण्डलों के कार्य

चुनाव-घोषणा-पत्र को ध्यान में रखते हुए कांग्रेसी मन्त्रि-मंडलों ने जनता की स्थिति सुधारने के लिए बहुत से काम किये। प्रांतों में लगान घटाने, किसानों को जमीन पर अधिक अधिकार दिलाने, उन्हें कर्ज से बचाने तथा मजदूरों की उन्नति के काम प्रायः सभी प्रांतों में हुए। इसके अतिरिक्त मद्रास ने जमींदारी समस्या, बम्बई ने मादक-वस्तु-निषेध तथा संयुक्त-प्रांत ने जेल-सुधार के विषयों को अपने हाथ में ले लिया। गांधीजी द्वारा चलाये जाने वाले रचनात्मक कार्यों को भी गति मिली। सभी प्रांतों में खादी, ग्रामोद्योग, बुनियादी तालीम, अस्पृश्यता-निवारण, राष्ट्रभाषा-प्रचार आदि कार्य प्रारम्भ हुए।

देश के भीतर और बाहर उत्तेजना का वातावरण

सन् १९३९ के प्रारंभ में देश और विदेश में स्थिति बड़ी चिन्ताजनक हो रही थी। चारों ओर उत्तेजना का वातावरण था। इन दिनों जो म्युनिक समझौता हुआ उसमें अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति बिगड़ती जा रही थी और शांति के नाम पर युद्ध की तैयारियां प्रारंभ हो रही थीं। फिलस्तीन में शांति स्थापित करने के नाम पर ब्रिटिश-सेना जबरदस्त दमन कर रही थी। चीन पर जापान का अमानुषिक प्रहार हो रहा था और लंका, बरमा, दक्षिण अफ्रीका, सर्वत्र कही भारतवासियों की दुर्दशा हो रही थी। जर्मनी और इटली में फासिस्टवाद की शक्ति जिस तेजी से बढ़ रही

थी और वे आसपास के देशों को जिस क्रूर दृष्टि से देख रहे थे, वह बड़ी चिंता का विषय बन गया था।

इधर देश की स्थिति भी ठीक नहीं थी। देशी राज्यों में कुछ शांतिपूर्ण संगठनों पर प्रतिबन्ध लगाया जा रहा था, जिससे वहां संघर्ष गहरा होता दिखाई देता था। स्थिति यहाँ तक बिगड़ी कि राजकोट के प्रश्नों पर स्वयं गांधीजी को अनशन करना पड़ा। सारे देश की आंखें उधर लग गईं। आखिर वाइसराय ने इस मामले में हस्तक्षेप किया और सर मारिस ग्वायर को समझौता कराने के लिए नियुक्त किया। निर्णय गांधीजी के पक्ष में हुआ लेकिन गान्धीजी ने अपने अनशन में कुछ दबाव अनुभव किया और उस निर्णय से लाभ नहीं उठाया।

कांग्रेस दो दलों में

इधर कांग्रेस के अन्दर भी विचारों का संघर्ष चल रहा था। धीरे-धीरे इस संघर्ष ने कांग्रेस में दो दल बना दिये और उनके बीच की खाई स्पष्ट दिखाई देने लगी। पहले दल पर गांधीजी की विचारधारा का प्रभाव था। इसके नेता थे सरदार वल्लभभाई पटेल और राजाजी। इनका मत था कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद को पूरी तरह उलट देने के लिए अभी देश को संगठित करना उचित नहीं है। वे नहीं मानते थे कि देश ब्रिटिश सेना का मुकाबला कर सकेगा। वे अंग्रेजों से अहिंसक संघर्ष अवश्य छेड़ना चाहते थे, लेकिन उनका खयाल था कि इस समय, जबकि अंग्रेज फासिस्टवाद से मोर्चा ले रहे हैं, कोई ऐसा कदम नहीं उठाना चाहिए जिससे उसकी शक्ति कमजोर बने। ऐसे समय यदि ब्रिटेन से कोई सम्मानपूर्ण समझौता हो सके तो उसे कर लेना चाहिए। क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में ब्रिटेन जनतन्त्र का पक्ष ले रहा था।

दूसरे दल के नेता थे श्री सुभाषचन्द्र बोस। उन्हें पहले दल की सुधार-वादी नीति एवं समझौता-पसन्द मनोवृत्ति पसन्द नहीं थी। हरिपुरा कांग्रेस में अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने बड़े अधिकार के साथ कहा था कि अब शीघ्र ही महायुद्ध छिड़ने वाला है और ब्रिटेन कठिनाई में पड़ जायगा। यही समय ब्रिटेन के विरुद्ध एक देशव्यापी प्रतिरोध के लिए

उपयुक्त होगा। उनका विचार था कि इन दिनों किसानों और मजदूरों में जो असन्तोष है उसका भी लाभ उठाया जा सकता है। अब वह समय आगया है जबकि हमें विदेशी शासन के प्रति अपना रुख काफी कड़ा बना लेना चाहिये। हमें इसकी चिंता नहीं करनी चाहिए कि फासिस्टवाद और जनतन्त्रवाद में लड़ाई हो रही है और हमें किस वाद की जीत में लाभ होगा। हमें तो समय से लाभ उठाना चाहिए और आवश्यकता पड़े तो हिंसा का भी सहारा लेना चाहिए। इस प्रकार गांधी-वाद के बढ़ते हुए प्रभाव के विरुद्ध उन्होंने जो आवाज उठाई थी, उसमें समाजवादी और साम्यवादी भी थे। यदि एक ही वाक्य में इस मत-भेद को प्रकट करना पड़े तो हम यह कहेंगे कि दूसरा दल ब्रिटिश हुकूमत को मिटा देना चाहता था जबकि पहला दल उसे मिटाकर स्वतन्त्रता प्राप्त करना पसन्द नहीं करता था।

त्रिपुरी कांग्रेस

जैसे-जैसे कांग्रेस के नये अधिवेशन के दिन पास आने लगे वैसे-वैसे यह मत-भेद तीव्र होने लगा। जब अधिवेशन के लिए सभापति के चुनाव का अवसर आया तो सुभाष बाबू ने कहा कि देश के सारे प्रगतिशील तत्व चाहते हैं कि मैं इस बार फिर सभापति बनूं। मैं भी मानता हूँ कि आगामी वर्ष हमारे राष्ट्रीयता के इतिहास में बड़े महत्व का वर्ष होगा। अतः उन दिनों मैं अपने देश की सेवा करने के लिए उत्सुक हूं। इधर कार्यसमिति के बहुत-से बड़े-बड़े नेता चाहते थे चुनाव एकमत से हो। उनका यह मत था कि जब-तक कोई विशेष स्थिति न हो किसी भी व्यक्ति को दुबारा सभापति न चुना जाना चाहिए। दूसरे वे भी मानते थे कि राष्ट्रपति तो देश की एकता और मजबूती का प्रतीक होता है, उसकी स्थिति वैधानिक प्रधान की तरह होती है। कांग्रेस की नीति तो कार्य-समिति ही निश्चित करती है। लेकिन सुभाष बाबू इसे मानने को तैयार नहीं थे। उनका विचार था कि सभापति की स्थिति अमरीका के प्रेसीडेंट की तरह है, जो चुने जाने के बाद स्वयं अपनी कार्यसमिति के सदस्यों को नामजद करता है।

इस मत-भेद के बीच चुनाव की कार्यवाही प्रारम्भ हुई। पहले दल की ओर से मौलाना आजाद को खड़ा किया गया। दूसरी ओर से स्वयं

सुभाष बाबू खड़े हुए। लेकिन मौलाना आजाद ने अपना नाम वापिस ले लिया। अतः पट्टाभिसीतारममैय्या को उनके स्थान पर खड़ा किया गया। दोनों ओर से खुले-आम प्रचार हुआ। लेकिन जब सुभाष बाबू जीत गए तो गांधीजी ने एक वक्तव्य निकाल कर कहा कि "मुझे सुभाष बाबू की जीत से प्रसन्नता है लेकिन चूंकि मैंने डा० पट्टाभिसीतारममैया को खड़ा होने के लिए कहा था। अतः पट्टाभिसीतारममैय्या की हार मेरी हार है।" उनके इस वक्तव्य ने बड़ी हलचल पैदा कर दी।

सन् १९३९ के मार्च मास में त्रिपुरी (मध्य-प्रदेश) में कांग्रेस का ५२ वां अधिवेशन प्रारम्भ हुआ। जो मत-भेद अब तक चला आ रहा था अब उसके अन्तिम निर्णय का समय आगया। संघर्ष अनिवार्य हो गया, अतः दोनों दल उसके लिए तैयारियां करने लगे। सूरत-कांग्रेस जैसी ही स्थिति हो गई। पहले दल के साथ देश के पूंजीपति और धनी-मानी लोग थे। जनता पर भी उनका काफी प्रभाव था। अतः उन्हें अपनी सफलता में कोई शंका नहीं थी। दूसरी ओर दूसरे दल के साथ मध्यम श्रेणी के नीचे के तबके के लोग थे। वह जनता को अपने प्रभाव में न ला सका। परिस्थिति बड़ी विषम हो रही थी। राजकोट की स्थिति से अधिवेशन के पूर्व लोगों के मन में बड़ा क्षोभ था लेकिन सौभाग्य से वह प्रश्न हल हो गया। इधर सुभाष बाबू बीमार थे! उनकी हालत इतनी खराब थी कि वह अपना भाषण तक पढ़ नहीं सके। परिणाम यह हुआ कि वह प्रतिनिधियों को अपनी बात समझाकर उन्हें अपने पक्ष में नहीं ला सके। दूसरी ओर उनका विरोधी दल अपना कार्य करता रहा। उसकी ओर से पं० गोविन्दवल्लभ पंत ने एक प्रस्ताव रखा, जिसका आशय यह था कि गांधीजी की नीति में कांग्रेस को पूरा विश्वास है और वह चाहती है कि आगे भी उसमें कोई अन्तर नहीं पड़े। आगामी वर्ष की विकट स्थितियों का खयाल करके प्रस्ताव में यह भी कहा गया कि अध्यक्ष महोदय अपनी कार्यसमिति के सदस्यों को गांधीजी की इच्छा के अनुसार नामजद करें। इस प्रस्ताव पर पं० नेहरू तथा समाजवादी दल और उसके नेता जयप्रकाशनारायण ने अपने मत नहीं दिये। देश में चारों ओर गांधीजी की इच्छा को सुभाष

बाबू पर जबरदस्ती लादने के इस प्रयत्न पर गुस्सा प्रकट किया गया। उन्होंने सभापति-पद से त्याग-पत्र दे दिया और फारवर्ड-ब्लाक नामक एक नई संस्था का संगठन प्रारम्भ किया। उनके इस विद्रोह ने देश के पुराने नेताओं के प्रति जनता में आदर की भावना अवश्य कम कर दी, लेकिन उनकी स्वयं की शक्ति भी कम हो गई। यह देश का दुर्भाग्य ही था।

: २० :

द्वितीय महायुद्ध और भारत

महायुद्ध छिड़ा

विगत कुछ वर्षों से जिस महायुद्ध छिड़ने की अशंका की जा रही थी वह सत्य बनकर ही रही। म्युनिक समझौते का कोई परिणाम नहीं निकला। पिछले वर्षों में हिटलर ने काफी शक्ति प्राप्त कर ली थी और उसकी उपनिवेशों की मांग उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही थी। उसने आस-पास हाथ-पांव फैलाना प्रारंभ किया, और पोलैण्ड जैसे बड़े देश पर हमला कर दिया। अब तो स्थिति विषम बन गई क्योंकि इङ्गलैंड और फ्रान्स उसकी सहायता के लिए वचन-बद्ध थे। अतः वे मैदान में आगए। सन् १९३९ के सितम्बर में बाकायदा युद्ध की घोषणा कर दी गई।

युद्ध की घोषणा होते ही वाइसराय ने भी भारत की ओर से युद्ध में सम्मिलित होने की घोषणा करदी। इतना बड़ा निर्णय करने के पूर्व न तो उन्होंने प्रान्तीय मन्त्रि-मण्डलों से राय ली, न केन्द्रीय धारा-सभा से। गांधीजी ने इसे कोई गंभीर बात नहीं मानी। लड़ाई में एक ओर प्रजातन्त्र के हामी राष्ट्र थे दूसरी ओर फासिस्ट। अतः गांधीजी ने प्रजातन्त्रवादी राष्ट्रों के प्रति अपनी सहानुभूति प्रकट की। इस नई परिस्थिति पर विचार करने के लिए १४ सितम्बर की कांग्रेस कार्यसमिति की बैठक हुई। बैठक में कहा गया कि जिस लोकतन्त्र-वाद को सुरक्षित बनाने के लिए आज इङ्गलैंड लड़ रहा है, भारत पिछली डेढ़ शताब्दी से उसीसे वंचित रखा गया है। समिति ने इस बात पर खेद प्रकट किया कि जब साम्राज्य के स्वाधीन उप-

निवेश अपनी-अपनी पार्लमेन्टों में युद्ध में भाग लेने या न लेने के प्रश्न पर विचार कर रहे थे तब इङ्गलैंड ने भारत के युद्ध में सम्मिलित होने की बात वैसे ही क्यों-कर मान ली ! समिति ने कहा कि सरकार को शीघ्र ही लड़ाई के उद्देश्य घोषित करने चाहिएं और यह बात स्पष्ट रूप से कहनी चाहिए कि इन उद्देश्यों को भारत में किस सीमा तक कार्यान्वित कियाजायगा।

लेकिन सरकार ने परिस्थिति को स्पष्ट करने का कोई प्रयत्न नहीं किया।

मन्त्रि-मण्डलों के त्यागपत्र

अतः फिर कार्य-समिति की बैठक हुई और उसने प्रान्तीय मन्त्रि-मण्डलों को आदेश दिया कि वह त्याग-पत्र दे दें। इस आदेश का उसी समय पालन हुआ और सब कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डलों ने त्याग-पत्र दे दिए; लेकिन कांग्रेस अभी कोई आन्दोलन छेड़ना नहीं चाहती थी। एक ओर यूरोप में मित्र-राष्ट्र कठिनाई में फंसे हुए थे दूसरी ओर देश की स्थिति भी अच्छी नहीं थी। मुस्लिम लीग से कांग्रेस का विरोध बढ़ता जा रहा था। स्थिति यहां तक बिगड़ चुकी थी कि कांग्रेस द्वारा त्यागपत्र दिये जाने पर मुस्लिम लीग ने २२ दिसम्बर को सारे देश में 'मुक्ति-दिवस' मनाया। बड़े-बड़े मुस्लिम लीग के नेता कहने लगे कि इस्लाम और हिन्दू-धर्म में मेल हो ही नहीं सकता। पिछले १२०० वर्षों का इतिहास यही बताता है कि इन दोनों जातियों में एकता के सारे प्रयत्न असफल रहे हैं। सरकार ने इस मतभेद और विद्वेष से बड़ा लाभ उठाया। उसने कहा कि जब तक ये मतभेद मौजूद हैं तब तक भारत को स्वाधीन कैसे किया जा सकता है ? वह ऐसा कोई कदम नहीं उठा सकती जिससे अल्पमत की सुरक्षा खतरे में पड़ जाय। लार्ड लिनलिथगो का विचार था कि देशी रियासतों के साथ उनके अच्छे सम्बन्ध, अल्पमत की सुरक्षा एवं अंग्रेज पूंजीपतियों के हितों की रक्षा के प्रश्न ही उन्हें अपनी नीति की घोषणा करने से रोक रहे हैं। अतः सन् १९४० के जनवरी मास में वाइसराय ने केवल अपनी कार्यकारिणी के थोड़े से विस्तार की घोषणा की और कहा कि वह उसमें कुछ राजनैतिक नेताओं को लेना चाहते हैं। लेकिन इस घोषणा में कुछ सार नहीं था। इससे कांग्रेस की मांग कुछ

अंश में भी पूरी नहीं हो रही थी। अतः उसे ठुकरा दिया गया। अब कांग्रेस के सामने असहयोग का ही मार्ग रह गया।

रामगढ़ कांग्रेस

सन् १६४० के अप्रैल मास में रामगढ़ बिहार में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। सभापति मौलाना आजाद चुने गए। युद्ध ही इस समय की प्रमुख समस्या थी। मौलाना ने अपने भाषण में कहा कि "भारत नाजीवाद और फासिस्टवाद को कभी भी बरदाश्त नहीं कर सकता। लेकिन ब्रिटिश साम्राज्यवाद से भी वह ऊब गया है। वह किसी तरह साम्राज्यवाद के पनपने में हाथ नहीं बटा सकता।" इस अधिवेशन में युद्ध-सम्बन्धी प्रस्ताव प्रमुख था। इसमें कहा गया कि ब्रिटिश सरकार यह युद्ध किसी महान उद्देश्य के लिए नहीं, अपने साम्राज्य की रक्षा के लिए लड़ रही है। अतः घोषणा की गई कि भारतीय जनता पूर्ण स्वतन्त्रता के अतिरिक्त अन्य किसी बात पर राजी नहीं हो सकती। एक विधान-सभा के निर्माण की भी मांग की गई और कहा गया कि देश का विधान प्रजातन्त्र, स्वाधीनता और राष्ट्रीय एकता के आधार पर बनाया जाना चाहिए।

अग्रगामी दल द्वारा संघर्ष

जिन दिनों कांग्रेस का अधिवेशन हो रहा था उन्हीं दिनों अग्रगामी दल का अधिवेशन, जिसका संगठन सुभाष बाबू के नेतृत्व में हुआ था, किसान-नगर नामक स्थान पर हुआ। सुभाष बाबू ने इस समानान्तर सम्मेलन में कहा कि "अगर इस देश में साम्राज्यवाद के साथ समझौता हुआ तो उनको साम्राज्यवाद के साथ अपने भारतीय सहयोगियों से भी टक्कर लेनी पड़ेगी।" अधिवेशन में उपस्थित लोगों ने कहा कि वे लड़ाई के लिए तैयार हैं। स्थिति विकट बनती जारही थी। सरकार और कांग्रेस दोनों ही रक्षात्मक खेल, खेल रहे थे और दोनों ही हवा का रुख देख कर अपना कर्तव्य निश्चित करना चाहते थे। इसी समय ६ अप्रैल को अग्रगामी दल ने संघर्ष छेड़ने की घोषणा कर दी। आशा थी कि आन्दोलन जोर पकड़ेगा लेकिन उत्तर-भारत में थोड़ी-सी गिरफ्तारियों के अतिरिक्त शेष भागों में उसका कुछ भी जोर दिखाई नहीं दिया।

व्यक्तिगत सत्याग्रह

इधर कांग्रेस के लिए भी चुपचाप बैठे रहना कठिन हो रहा था। चारों ओर से संग्राम छेड़ने की मांग आने लगी। गांधीजी ने व्यक्तिगत सत्याग्रह प्रारंभ करने का निश्चय किया और १७ अक्तूबर से वह प्रारंभ हो गया। गांधीजी ने अहिंसा और रचनात्मक कार्य में विश्वास रखने वाले लोगों को ही सत्याग्रह करने की इजाजत दी। पहले सत्याग्रही श्री विनोबा भावे चुने गए। उन्होंने युद्ध-विरोधी भाषण देकर सत्याग्रह किया उसके बाद सारे देश में सत्याग्रह प्रारंभ हो गया। जिनको गांधीजी की स्वीकृति मिल जाती थी वे कार्यकर्ता पुलिस और मैजिस्ट्रेट को अपने सत्याग्रह के समय और स्थान की सूचना देकर सत्याग्रह करते थे। सत्याग्रह करते समय वे युद्ध-विरोधी भाषण देते या नारे लगाते थे। यह केवल एक प्रतीकवादी सत्याग्रह था।

महायुद्ध की गति-विधि

२२ जून सन् १९४१ से महायुद्ध का एक नया अध्याय प्रारम्भ हुआ। इस दिन हिटलर ने रूस पर आक्रमण कर दिया। इस परिवर्तन ने भारत पर भी असर डाला। जो साम्यवादी दल अब तक कांग्रेस के साथ था अब वह लोक-युद्ध का नारा लगाने लगा और युद्ध-प्रयत्नों में सरकार की मदद करने लगा। अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति दिन-प्रति-दिन विकट होती जा रही थी। १९४१ के दिसम्बर मास में जापान भी युद्ध में कूद पड़ा। उसने दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों पर आक्रमण किया और वे एक के बाद एक उसके कब्जे में आने लगे। लड़ाई दिन-प्रति-दिन भारत के पास आती जा रही थी। अतः चारों ओर चिन्ता व्यक्त की जाने लगी। पं० जवाहरलाल नेहरू और राजाजी तो यहां तक तैयार हो गए कि यदि सरकार उत्तरदायी राष्ट्रीय सरकार का निर्माण कर दे तो वह उसके साथ सहयोग करेंगे। कार्यसमिति का भी यह विचार हो गया कि अब अहिंसा की नीति काम नहीं दे सकती। ३० दिसम्बर को बारडोली में कार्य-समिति की बैठक हुई। उसने गांधीजी को कांग्रेस के नेतृत्व से मुक्ति दे दी और उन लोगों के प्रति सहानुभूति प्रकट की जो अपनी स्वतन्त्रता के लिए लड़ रहे थे और इन अत्याचारों के शिकार बन रहे थे। उसने इस बात पर जोर दिया कि केवल 'स्वतंत्र भारत' ही देश

की रक्षा कर सकता है और लड़ाई के तूफान का मुकाबला कर सकता है। इधर सन् १९४२ के आरम्भ में मार्शल चांगकाई शेक तथा मेडम चांगकाई शेक भारत आये और उन्होंने ब्रिटेन एवं भारत दोनों से अपील की कि वह एकता बनाएं रखें। स्थिति विकट होती जा रही थी। जापान की जबरदस्त शक्ति से धक्का खाकर अमरीकी बेड़ा अपने समुद्रतट पर पहुँच गया और सिंगापुर जापान के अधिकार में चला गया। अंग्रेज पस्त-हिम्मत हो रहे थे। बङ्गाल की खाड़ी और हिंद महासागर के बहुत से भाग पर उनका कब्जा समाप्त हो गया था और ऐसा लगता था कि अब भारत की रक्षा करने की शक्ति अंग्रेजों में नहीं रही है। यह बड़ी ही चौंका देने वाली स्थिति थी। इसने अंग्रेजों के सामने यह प्रश्न उपस्थित कर दिया कि किस प्रकार भारतीय तत्त्वों को संगठित करके अपने देश की रक्षा के लिए खड़ा किया जा सकता है

क्रिप्स-मिशन

इस परिस्थिति से विवश होकर ११ मार्च को ब्रिटिश प्रधान-मंत्री श्री विन्स्टन चर्चिल ने हाउस आफ कामन्स में घोषणा की कि समाजवादी नेता श्री स्टेफर्ड क्रिप्स ने राजनैतिक-मिशन पर भारत जाना स्वीकार कर लिया है। अपने वक्तव्य में श्री चर्चिल ने कहा कि युद्ध समाप्त होने के बाद भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य दे दिया जायगा। रूस से लौटने के बाद से ही सर स्टेफर्ड क्रिप्स की शान में चार चांद लग गए थे। अंग्रेज अखबारों ने उनके आगमन का बड़ा स्वागत किया। २३ मार्च के दिन वह भारत आये। उन्होंने कहा कि भारत के मित्र के नाते मैं जल्दी ही समझौता कर लेना चाहता हूं। २५ मार्च से उन्होंने देश के प्रमुख राजनैतिक दलों के नेताओं से बातचीत प्रारम्भ कर दी। २९ मार्च को उन्होंने सब लोगों के सामने अपने प्रस्तावों की घोषणा की। घोषणा में कहा गया कि उनके प्रस्तावों का लक्ष्य सम्राट की छत्र-छाया में एक ऐसे नवीन भारतीय संघ का निर्माण करना है जिसका दर्जा अन्य उपनिवेशों के ही बराबर होगा। अपने घरेलू और विदेशी मामलों में उसे पूरी स्वतंत्रता रहेगी। श्री क्रिप्स ने इस दृष्टि से निम्नलिखित कदम उठाने की बात कही :

अ. महायुद्ध के समाप्त होते ही विधान बनाने के लिए विधान-सभा का चुनाव प्रारम्भ कर दिया जायगा।

आ. ऐसी व्यवस्था की जायगी कि विधान बनाने वाली परिषद् में भारतीय रियासतें भाग ले सकें।

इ. सम्राट की सरकार इस प्रकार तैयार किये हुए विधान को उसी अवस्था में स्वीकार करेगी जब कि निम्नलिखित शर्तें पूरी हों :

१. यदि ब्रिटिश भारत का कोई प्रान्त नये विधान को स्वीकार न करना चाहे तो उसे वर्तमान वैधानिक स्थिति को कायम रखने का अधिकार रहेगा; लेकिन साथ में यह व्यवस्था भी रहेगी कि यदि वह बाद में चाहे तो विधान में सम्मिलित कर लिया जाय।

२. सम्राट की सरकार तथा उस विधान-निर्मातृ-परिषद के बीच एक सन्धि होगी। अंग्रेजों से पूर्ण उत्तरदायित्व हस्तान्तरित होने की सभी समस्याओं का समावेश इस सन्धि में रहेगा। सन्धि में जातीय तथा धार्मिक अल्पसंख्यकों की रक्षा के लिए प्रबन्ध रहेगा।

३. कामनवेल्थ के साथ अपना भावी सम्बन्ध निश्चय करने की स्वतन्त्रता भारतीय संघ को होगी।

विधान-निर्मातृ-परिषद के निर्माण के लिए इन प्रस्तावों में कहा गया था कि प्रान्तों की निम्न धारा-सभाओं के सम्पूर्ण सदस्य मिलकर एक निर्वाचक मण्डल की हैसियत से बैठेंगे और आनुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर विधान-निर्मातृ-परिषद का चुनाव करेंगे। निर्वाचक मण्डल में जितने व्यक्ति होंगे उसकी दशमांश संख्या इस विधान-निर्मातृ-संस्था में होगी और विभिन्न जातियों को उनकी जनसंख्या के अनुपात से प्रतिनिधित्व प्राप्त होगा। देशी रियासतें भी अपनी जन-संख्या के अनुपात से प्रतिनिधि नियत करेंगी। युद्ध समाप्त होने तक इस संकट-काल में प्रतिरक्षा विभाग का उत्तरदायित्व सम्राट की सरकार संपूर्ण विश्व-युद्ध प्रयत्नों के एक अंग के रूप में, अपने हाथ में रखेगी। सर् स्ट्रेफर्ड क्रिप्स ने यह स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि यदि सारे दल मिल कर भी प्रतिरक्षा विभाग को भारतीय हाथों में देने की मांग करेंगे तब भी वह नहीं दिया जायगा। यदि

किसी प्रान्त की धार सभा ८० प्रतिशत मतों से संघ में सम्मिलित होने का निश्चय नहीं करती है तो उस प्रान्त में जनमत लिया जायगा।

डा० पट्टाभिसीतारामैया ने क्रिप्स-प्रस्तावों के बारे में 'कांग्रेस के इतिहास' में ठीक ही लिखा है : "उसमें प्रत्येक दल को खुश करने की बातें थीं। कांग्रेस को प्रसन्न करने के लिए प्रस्तावों में औपनिवेशिक स्वराज्य और विधान-परिषद का उल्लेख था। मुस्लिम लीग के लिए सबसे बड़ी बात यह थी कि किसी भी प्रान्त को भारतीय संघ से अलग हो जाने का हक था। नरेशों को न केवल इस बात की स्वतन्त्रता थी कि वह चाहें तो इस संघ में शामिल हों या न हों, बल्कि विधान-परिषद में रियासतों के प्रतिनिधि भेजने का एक मात्र अधिकार भी उन्हें ही दे दिया गया था।" लेकिन सर क्रिप्स के प्रस्तावों की कमजोरियां स्पष्ट थीं। अतः वह असफल हो गए। कांग्रेस को वह इसलिए पसन्द नहीं आये कि शासन-परिषद-धारा-सभा के प्रति जिम्मेदार नहीं थी। प्रान्तों और रियासतों को भारतीय संघ से अलग रहने का अधिकार दे दिया गया था। नरेशों को विधान-परिषद में अपना प्रतिनिधि भेजने का अधिकार देने का मतलब था रियासती जनता की एकदम उपेक्षा और उनके भाग्य को नरेशों पर छोड़ देना, प्रतिरक्षा को सुरक्षित विषय मानकर भारतीयों को देने से इन्कार किया गया था। लीग को वह इसलिए पसन्द नहीं आये कि प्रान्तों और रियासतों को साफ-साफ शब्दों में संघ से अलग रहने का अधिकार नहीं दिया गया था। हिन्दू महासभा ने इन्हें इसलिए अस्वीकार कर दिया कि इनमें विभाजन के लिए गुंजाइश थी। इन सब कमियों के कारण यह स्पष्ट था कि ब्रिटेन की इच्छा सत्ता हस्तान्तरित करने की बिल्कुल नहीं थी। वह तो केवल एक गुलाम देश के प्रतिनिधियों के रूप में कांग्रेस और लीग की मदद से अपना युद्ध-प्रयत्न जोरदार बनाना चाहता था। अतः गांधीजी ने कह दिया था : "यह तो दिवालिया बैंक के नाम बाद की तारीख का चेक है। यदि आपके यही प्रस्ताव हैं तो आपने स्वयं यहां आने का कष्ट क्यों किया?" परिणाम यह हुआ कि ११ अप्रैल को सर स्ट्रेफर्ड क्रिप्स ने अपने प्रस्तावों को वापिस लेने की घोषणा कर दी। इस

असफलता पर राष्ट्रपति मौलाना आजाद ने कहा : "ऐसा प्रतीत होता है कि सरकार भारत की ठीक-ठीक रक्षा करना नहीं चाहती । उसे तो इस बात की सबसे ज्यादा फिक्र है कि साम्राज्य बना रहे।"

: २१ :

'भारत छोड़ो' आंदोलन और आजाद हिन्द फौज

१४ जुलाई का प्रस्ताव

क्रिप्स-वार्ता के असफल हो जाने पर यह स्पष्ट हो गया कि ब्रिटेन भारत को आजाद होकर फासिस्टवाद और नाजीवाद से नहीं लड़ने देना चाहता है। इधर लड़ाई उत्तरोत्तर नजदीक आती जा रही थी। अब अधिक समय तक चुपचाप रहना खतरनाक था। अतः जुलाई के दूसरे सप्ताह में वर्धा में कांग्रेस कार्य-समिति की बैठक हुई। इस बैठक में एक प्रस्ताव पास करके उसने सरकार से अनुरोध किया कि वह भारत से विदेशी सत्ता हटा ले। अभी-अभी यह देखा गया था कि जापान के आक्रमण के कारण अंग्रेजों को मलाया और सिंगापुर से हटना पड़ा था। उस समय उनका वहां से हटना सद्भावना पूर्ण नहीं हुआ। वे विवश होकर हटे। अतः बेचारी जनता की दुर्दशा हो गई। उसे दुहरे आक्रमण का मुकाबला करना पड़ा। जापान तो आक्रमण कर ही रहा था, हटते समय ब्रिटेन उस प्रदेश को इतनी खराब हालत में छोड़ना चाहता था जिससे जापान को वहाँ से कोई लाभ न मिले। परिणाम यह हुआ कि ये प्रदेश चक्की के पाट के नीचे आ गए और दोनों ओर से बुरी तरह पिसे। जनता में दोनों देशों के प्रति जबरदस्त दुर्भावना पैदा हो गई। इधर देश में जबरदस्त अशांति फैली हुई थी। युद्ध के कारण वस्तुओं के भावों पर बड़ा असर पड़ा था। जनता त्रस्त थी। कांग्रेस चाहती थी कि जनता आगामी खतरे के लिए तैयार हो। उसके विचार से ब्रिटेन की भी इसी में भलाई थी। अतः इस प्रस्ताव के अन्त में स्पष्ट रूप से कह दिया गया था कि यदि भारत

छोड़ने की यह मांग नहीं मानी गई तो उसे मजबूर होकर लड़ाई छेड़नी पड़ेगी। यह १४ जुलाई का प्रस्ताव ही 'भारत छोड़ो' आंदोलन की भूमिका था।

अगस्त प्रस्ताव

इस प्रस्ताव के अंत में कहा गया था कि ७ अगस्त को बम्बई में अखिल भारतीय महासमिति की बैठक बुलाई जाय और उसमें इस प्रस्ताव पर अंतिम निर्णय किया जाय। अतः ७ अगस्त को बम्बई में महासमिति की बैठक हुई। यह बैठक एक छोटा-सा अधिवेशन ही था। बैठक में बहुत सोच-विचार के बाद वह ऐतिहासिक प्रस्ताव पास हुआ जिसे अगस्त-प्रस्ताव कहते हैं। प्रस्ताव में कहा गया था कि भारत की स्वतन्त्रता को तुरन्त स्वीकार कर लेना भारत ही नहीं ब्रिटेन और मित्रराष्ट्रों के भी हित में है। प्रस्ताव में ब्रिटिश-राज्य उठा लेने के लिए विचारपूर्ण तर्क दिये गए थे और कहा गया था : "इसलिए आज के खतरे को देखते हुए भारत को स्वतन्त्र कर देने और ब्रिटिश आधिपत्य को समाप्त कर देने की आवश्यकता है। भविष्य के लिए किसी भी प्रकार की प्रतिज्ञाओं और गारंटियों से वर्तमान परिस्थिति में सुधार नहीं हो सकता........इसलिए अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी पूरे आग्रह के साथ भारत से विदेशी सत्ता को हटा लेने की मांग को दुहराती है।" इस प्रस्ताव में आगे कहा गया था कि भारत की स्वतन्त्रता की घोषणा हो जाने पर एक अस्थायी सरकार स्थापित कर दी जायगी जो अपनी सारी सशस्त्र और अहिंसात्मक शक्ति से तथा मित्र-राष्ट्रों के सहयोग से भारत की रक्षा तथा बाह्य आक्रमणों का विरोध करेगी। यह सरकार विधान-परिषद् की योजना तय्यार करेगी और वह विधान भारत के सभी वर्गों द्वारा स्वीकृत किये जाने योग्य विधान बनायगी। उसके अन्त में कहा गया था : "इसलिए कमेटी भारत के स्वतन्त्रता और स्वाधीनता के अवि-च्छेद्य अधिकार का समर्थन करने के उद्देश्य से अहिंसात्मक प्रणाली से और अधिक-से-अधिक विस्तृत परिमाण पर एक विशाल संग्राम चालू करने की स्वीकृति देने का निश्चय करती है, जिससे देश गत २२ वर्षों के शांतिपूर्ण- संग्राम में संचित की गई समस्त अहिंसात्मक शक्ति का प्रयोग

कर सके। यह संग्राम निश्चय ही गांधीजी के नेतृत्व में होगा। कमेटी उन से नेतृत्व करने और प्रास्ताविक कार्यवाहियों में राष्ट्र का प्रदर्शन करने का निवेदन करती है...अन्त में कमेटी समस्त सम्बद्ध लोगों के लिए यह स्पष्ट कर देना चाहती है कि विशाल संग्राम आरंभ करके वह कमेटी के लिए कोई सत्ता प्राप्त करने की इच्छुक नहीं है। सत्ता जब मिलेगी तब उस पर समस्त भारतीयों का समान अधिकार होगा।"

इस प्रस्ताव के द्वारा यह बात स्पष्ट रूप से कह दी गई थी कि भारत जैसा गुलाम राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों को स्वतन्त्रता प्राप्त कराने के लिए नहीं लड़ सकता। और न वह यह आशा ही रख सकता है कि युद्ध समाप्त होने पर वह अंग्रेजों की दासता से मुक्त हो जायगा। इस प्रस्ताव के द्वारा कांग्रेस ने देश के सब लोगों का आह्वान किया और कहा कि वे स्वतन्त्रता के यज्ञ में अपनी अंतिम आहुति देने के लिये तय्यार हो जांय। उन्हें साहस के साथ सफलता-असफलता की चिंता किये बिना वीर सैनिकों की भाँति स्वतन्त्रता-संग्राम में कूद पड़ना चाहिये।

इस प्रस्ताव को पं० जवाहरलाल नेहरू ने पेश किया और सरदार पटेल ने इसका समर्थन किया। केवल कम्युनिस्टों ने प्रस्ताव का विरोध किया जब मत लिये गए तो १३ व्यक्तियों ने विरोध से मत दिये और प्रस्ताव बड़े भारी मत से पास हो गया।

इस प्रस्ताव पर गांधीजी का भाषण बड़ा ही महत्वपूर्ण था। ऐसा लगता था मानो वे राजनीति के निम्न धरातल से ऊपर उठकर उत्कृष्ट मानवता, विश्व-बंधुत्व और शांति से परिपूरित होकर बोल रहे थे। उन्होंने तात्कालीन परिस्थिति, आंदोलन की रूप-रेखा तथा देश और विश्व की समस्याओं पर बड़े ही ओजस्वी ढंग से प्रकाश डाला और अंत में कहा "मैंने कांग्रेस को बाजी पर लगा दिया है वह करेगी या मरेगी।"

आन्दोलन की आग भड़की

'करो या मरो' का मन्त्र देकर मानो गांधीजी ने उत्साह और साहस की लहर दौड़ा दी। सरकार लोगों के जोश को देख कर घबरा गई। पौ फटने के पहले ही उसने गांधी जी, कार्यसमिति के सदस्य तथा अन्य बड़े-बड़े नेताओं को गिरफ्तार कर

लिया। गिरफ्तारी की यह कार्यवाही उसने बड़ी ही तेजी और अप्रत्याशित ढंग से की। किसी को यह पता भी नहीं चलने दिया गया कि इन लोगों को कहां ले जाया जा रहा है।

नेताओं की गिरफ्तारी राष्ट्र का बहुत बड़ा अपमान था जिसे वह सहन नहीं कर सका। आग भड़क उठी। जिसे जो सूझा वह वही करने लगा सरकार ने देश को चुनौती दी थी जनता ने इस चुनौती को स्वीकार कर लिया और तुर्की-ब-तुर्की जवाब दिया। कम्युनिस्टों को छोड़ कांग्रेस के अन्दर के सभी लोगों ने आन्दोलन में भाग लिया और अपने प्राणों की बाजी लगा दी। सारे देश में मानों तूफान उमड़ पड़ा। जगह-जगह सभाएं जलूस और तोड़-फोड़ के कार्यक्रम होने लगे। जनता की उत्तेजित भीड़ ने रेल की पटरियां उखाड़ीं, तार काटे, पोस्ट आफिस जलाये, रेलवे स्टेशन नष्ट किये, पुलिस स्टेशनों पर हमले किये, सरकारी इमारतें जलाईं और इस तरह के अन्य कितने ही काम किये। अलीगढ़ विश्वविद्यालय को छोड़कर देश की सभी शिक्षण-संस्थाएं बन्द होगईं। बनारस विश्वविद्यालय पर फौज ने कब्जा कर लिया। रेल की पटरियों के उखाड़ने से कई जगह यातायात बन्द हो गया। मदरास मेल कई दिनों तक नहीं चल सकी। बिहार में मुंगेर का सम्बंध दो सप्ताह तक बाहरी दुनिया से टूट-सा गया। यही हाल उत्तर प्रदेश में बलिया का रहा। वहां जनता का राज्य कायम होगया। कई जगह जनता ने डट कर फौजका मुकाबला किया। इसी तरह महाराष्ट्र के सतारा जिले में नाना पाटिल नामक एक जननेता ने पत्री सरकार के नाम से जनता की सरकार कायम करदी। सभी बड़े-बड़े शहरों में गोली-चली और लाठी-चार्ज हुए। जगह-जगह सामूहिक जुर्माने हुए लेकिन जनता का उत्साह ठंडा पढ़ने के बजाय बढ़ता ही गया और यह आन्दोलन दो वर्ष तक चलता रहा। समाजवादी दल ने अपने ढंग से जनता का पथ प्रदर्शन किया। उसके नेता गायब हो गए और वे आन्दोलन को बल देते रहे।

सरकार ने आन्दोलन को दबाने के लिए किसी भी बात की कमी नहीं रहने दी। उसने कई लोगों को गोली से उड़ा दिया। स्त्रियों के साथ

बलात्कार किया, छोटे-छोटे बच्चों को कोड़े लगाये सामूहिक जुर्माने किये और हवाई जहाज से बम तक गिराये। जेल में तो हजारों लोगों को बन्द कर दिया गया। सरकारी रिपोर्ट के अनुसार लगभग २५० स्टेशनोंको नुकसान पहुचाया गया। ५०० पोस्ट आफिसऔर १५० पुलिस स्टेशनों पर आक्रमण किया गया। हड़तालें तो जगह-जगह हुईं और अनेक बड़े-बड़े कारखानों का काम कई दिनों तक बन्द रहा।

आन्दोलन का दमन

इसमें कोई सन्देह नहीं कि अपनी भयंकरता और विस्तार में यह आन्दोलन सन् १८५७ के विद्रोह से आगे बढ़ा हुआ था। यदि जनता के सामने कोई निश्चित कार्यक्रम होता, उन्हें अच्छा नेतृत्व मिला होता तो सफलता निश्चत हो जाती। पं० जवाहरलाल नेहरू ने जेल से छूटने पर कहा था : "सन् १६४२ की घटनाओं के लिए मुझे बड़ा गर्व है। यद्यपि यह कहना बड़ी वेहूदगी होगी कि कांग्रेस ने किसी ऐसे आन्दोलन के लिए पहले से संगठन किया था। फिर भी सन् १६४२ की घटनाओं की जेम्मेदारी व्यक्तिगत रूप से मैं अपने ऊपर लेता हूं। वह तो निहत्थे और हताश लोगों का नेतृत्व विहीन आन्दोलन था जिसका न कोई संगठन था न तैयारी। फिर भी लोगों ने घोर कष्ट सहकर अद्भुत वीरता के साथ महान कुर्बानी की।"

आन्दोलन एक गर्व की वस्तु था

जब 'भारत छोड़ो' आन्दोलन चल रहा था उन्हीं दिनों एक बड़ी दुःखद घटना घटी। वह थी बंगाल का अकाल। सरकार 'भारत छोड़ो' आन्दोलन से काफी चिढ़ गई थी अतः अकाल के कारण जो स्थिति बिगड़ी उसे सुधारने का उसने तनिक भी प्रयत्न नहीं किया। १६ अक्टूबर सन् १६४२ के दिन बंगाल के दक्षिण जिलों में खासकर मेदिनीपुर और चौबीस परगने में बड़े जोर की आंधी आई। इससे धन-जन दोनों की अपार क्षति हुई। अकाल का सूत्रपात इस प्रकार प्राकृतिक कारणों से हुआ था लेकिन उसके साथ अन्य कारण भी मिल गये और स्थिति गंभीर बनतो गई। यहां तक कि अकाल

बंगाल का अकाल

कारण मरने वालों की संख्या ४० लाख तक पहुँच गई। इतने बड़े नाश के लिए सरकार ही जिम्मेदार थी। जिधर देखो उधर मुर्दे-ही-मुर्दे खाई देते थे। लेकिन सरकार के कान पर जूँ तक नहीं रेंग रही थी। तके अनेक कारण थे। बंगाल का लीगी मन्त्रि-मण्डल सरकार के हाथ खिलौना बनकर उसमें पूरा योग दे रहा था। कुछ धनी मुसलमानों को भ पहुंचाने के लिए उसने लाखों व्यक्तियों को काल के गाल में पहुंचा था। एक ओर सरकारी कर्मचारियों की अनैतिकता और दूसरी ओर ी-मानी व्यापारियों की मुनाफा-खोरी की वृत्ति ही इसके लिए उत्तरदायी । व्यापारियों ने इन दिनों लगभग १५० करोड़ रुपया कमाया। कहा ता है कि एक मृत व्यक्ति के पीछे उन्होंने हजार-आठ सौ रुपया कमाया।

अकाल की यह घटना भारतीय नव-जागरण के इतिहास में एक काला है। लाखों लोग भूख-भूख चिल्लाकर मर गए लेकिन जिस शासन ने की यह दुर्गति की उसके खिलाफ वह बोल न सके यह बड़े ही दुर्भाग्य बात थी

'भारत छोड़ो' आन्दोलन समय के साथ शिथिल पड़ता जा रहा था।

ाद हिन्द फौज

लेकिन भारत की आजादी की लड़ाई अब एक दूसरे ही नेता के नेतृत्व में एक दूसरे ही स्थान एक भिन्न विचार-धारा को लेकर प्रारम्भ हो गई थी। बात यह हुई कि जापान ने दिसम्बर सन् १९४१ में मित्रराष्ट्रों के विरुद्ध लड़ाई छेड़ी मलाया में लगभग ६०,००० भारतीय सिपाई कैद हुए। अंग्रेजों ने और काले सिपाहियों के वेतन आदि में जो भेदभाव की नीति अपना रखी उससे ये लोग बड़े असन्तुष्ट थे और यही कारण था कि ये लोग आधे- से लड़े थे। प्रसिद्ध क्रान्तिकारी श्री रासबिहारी बोस इन दिनों जापान े थे और वह वहां भारत की स्वतन्त्रता के लिए आन्दोलन कर रहे थे। जापान के उच्च सैनिक अधिकारियों से मिले और उनके सामने इन तीय युद्ध-बन्दियों की एक सेना बनाने का प्रस्ताव रखा। उनका यह ाव मान लिया गया और इस प्रकार सन् १९४२ के सितम्बर मास में ाद हिन्द फौज का निर्माण हुआ। अंग्रेजों से असन्तुष्ट अनेक भारतीय

सैनिक, जो उन दिनों जावा, मलाया, हांगकांग और बरमा में थे इस सेना में भर्ती हो गए। सन् १९४३ में सुभाष बाबू वहां पहुंच गए और उन्होंने इस सेना में नये प्राण फूंक दिये। सुभाष बाबू जब अपने घर में ही नजरबंद थे तब उन्होंने किसी भी आदमी से मिलना-जुलना बन्द कर दिया था। इन्हीं दिनों वह एक दिन अचानक गायब हो गए। वह गुप्त रीति से अफगानिस्तान के रास्ते जर्मनी पहुँचे और वहां से जुलाई १९४३ में मलाया आये। यद्यपि इस सेना का संगठन जापानी भूमि पर जापान की ही देख-रेख में हो रहा था तथापि २६जून सन् १९४५ के ब्राडकास्ट में इसका उद्देश्य सुभाष बाबू ने इस प्रकार बताया था : "इस सेना का झंडा भारत का राष्ट्रीय झंडा है, और इसके नारे भी भारत के राष्ट्रीय नारे हैं। इस सेना के अपने ही भारतीय आफिसर हैं। और लड़ाई के मैदान में यह सेना अपने ही भारतीय कमाण्डरों के नेतृत्व में लड़ती है । यदि कोई कहे कि यह सेना किसी के हाथ का खिलौना है तो यह बिलकुल गलत है। यदि कोई ऐसी सेना है तो वह अंग्रेजों की भारतीय सेना है क्योंकि वह अंग्रेज कमाण्डरों के नेतृत्व में उनके साम्राज्यवादी हितों के लिए लड़ रही है।"

उनकी दृष्टि में भारत की आजादी के लिए धुरी-राष्ट्रों की मदद लेना कोई बुरी बात नहीं थी। वह कहते थे कि यदि बिना किसी दूसरे राष्ट्र की मदद लिये ही भारत को हम आजाद बना सके होते तो वह बड़ी प्रसन्नता की बात होती। लेकिन वर्तमान इतिहास में अभी ऐसा उदाहरण मिलना कठिन है। अतः यदि हम अंग्रेजों के दुश्मनों से मिल जाते हैं तो वह असम्मानजनक नहीं है। हमारी बड़ी कठिनाई यह है कि हम अपने दुश्मनों से पूरी तरह घृणा नहीं करते और हमारे नेता भारत के दुश्मनों से घृणा करने की बात नहीं कहते जब कि वे उन लोगों से घृणा करने के लिए कहते हैं जिन्हें वे दूसरे राष्ट्रों के दुश्मन मानते हैं। क्या हमारे कुछ उन नेताओं के लिए यह हास्यास्पद नहीं है जो बाहर फासिस्टवाद से लड़ने और घर में साम्राज्यवाद से हाथ मिलाने की बात कहते हैं ?"

इसमें कोई सन्देह नहीं कि सुभाष बाबू बड़े वीर और साहसी देश-भक्त थे। उनके लिए आराम और सुख जैसे था ही नहीं। वह प्रत्येक क्षण

लड़ने और अपने प्राणों को खतरे में डालने के लिए तय्यार रहते थे। उनकी देशभक्ति में तनिक भी शंका नहीं की जा सकती। उन्होंने अपने भाषण में गांधीजी का आशीर्वाद मांगा और कहा, "मैंने अपना जीवन इसलिए खतरे में डाला है कि मैं अब देशके भविष्यके साथ जुआ खेलना पसंद नहीं करता।" उनके शब्दों में जैसे जादू होता था। अनेक भारतीय उनके इशारे पर मिट जाने को तय्यार हो गए। आजाद हिन्द फौज सन् १९४५ तक अनेक मोर्चों पर लड़ती रही। वह बढ़ते-बढ़ते भारत की सीमा में आगई औरउसने भारत-भूमि में अपना झंडा गाड़ दिया। लेकिन समय ने पलटा खाया, जापान हारकर पीछे हटने लगा और अंग्रेजी सेनाओं के मुकाबले में सुभाष बाबू को भी पीछे हटना पड़ा।

सन् १९४३ से ४५ तक का समय

इधर सन् १९४३ से ४५ तक का समय भारत के लिए बड़ी निराशा और मुसीबत से भरा हुआ था। सरकार की छत्र-छाया में जिस मुनाफेखोरी और काले बाजार को पोषण मिल रहा था उससे साधारण जनता त्रस्त थी। देश के सभी बड़े-बड़े नेता जेलों में बन्द थे। सरकार ने कांग्रेस के नेताओं पर उलटे-सीधे आरोप किये और उनको दुनिया की दृष्टि में नीचे गिराने का प्रयत्न किया। लेकिन इन सबका जवाब कौन देता? गांधीजी ने वाइसराय को पत्र लिखकर अपना पक्ष स्पष्टरूप में उनके सामने रखने की कोशिश की लेकिन कोई परिणाम नहीं निकला। सरकार अपनी बात ही कहती रही। अतः ९ फरवरी १९४३ के दिन से गांधीजी ने २१ दिन का उपवास किया। उनके इस उपवास से देश में नई हलचल प्रारम्भ हो गई। वाइसराय की कार्य-कारिणी के कुछ सदस्यों ने त्याग-पत्र दे दिए। सन् १९४४ के मध्य में गांधीजी जेल से छूटे। सन् १९४५ के मई मास में लड़ाई समाप्त हो गई और जून में अन्य नेतागण भी मुक्त कर दिये गए। नेताओं के छूटते ही देश में फिर उत्साह की लहर दौड़ गई। नेहरूजी ने देश को 'भारत छोड़ो' आंदोलन इतने उत्साह से चलाने के लिए बधाई दी। उन्होंने जगह-जगह अपने भाषणों में बलिया, सतारा, मिदनापुर आदि की वीरतापूर्ण घटनाओं की प्रशंसा की और कहा कि

मुझे उस पर गर्व है। सरदार पटेल ने कहा कि हम 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव में एक अर्ध-विराम भी बदलने को तय्यार नहीं हैं। इतना ही नहीं कांग्रेस अब जल्दी ही 'एशिया छोड़ो' का नारा लगाने वाली है।

युद्ध के दिनों में साम्यवादियों ने बड़ा ही देशद्रोही रुख अपनाया था और 'लोकयुद्ध' का नारा लगाकर कांग्रेस की नीति के विरुद्ध आचरण किया था। अतः बम्बई की महासमिति की बैठक में उन्हें कांग्रेस से अलग कर दिया गया।

युद्ध समाप्त होते ही आजाद हिंद फौज के अधिकारियों और सैनिकों पर सरकार ने मुकदमा चलाने का निश्चय किया। इस खबर से देश में बड़ी हलचल मची। कांग्रेस ने और खास कर पं० जवाहरलाल नेहरू ने उनका बड़ा पक्ष लिया और उनकी पैरवी की। इस घटना ने जनता में जबरदस्त जाग्रति पैदा कर दी। आजाद हिंद फौज के सैनिकों ने सुभाष बाबू की वीरता और उनके देशप्रेम की कहानी घर-घर पहुंचा दी। आजाद हिंद फौज की वीरता गौरव की चीज बन गई। इन्हीं दिनों एक हवाई जहाज दुर्घटना से सुभाष बाबू की मृत्यु का समाचार मिला। इस समाचार ने सारे देश में शोक फैला दिया। बहुत से लोगों ने तो इस पर विश्वास ही नहीं किया। इसमें कोई शक नहीं कि वह भारत की आजादी की लड़ाई के एक बहुत बड़े सैनिक थे। उनकी याद करके अनेक व्यक्ति आज भी आंसू बहाते हैं। उनकी आजाद हिंद फौज ने लोगों के विचारों में इतनी क्रांति कर दी कि अंग्रेजों का साहस ठंडा हो दिया। और उन्होंने आगे शक्ति-प्रयोग के बल पर भारत को और अधिक दबाये रखने का इरादा ही छोड़ दिया।

: २२ :

आखिर अंग्रेजों ने भारत छोड़ा

महायुद्ध के समाप्त होते ही स्थिति बदल गई थी। इङ्गलैंड में चुनाव होने जा रहे थे और जनता का रुख मजदूर-दल को विजयी बनाने का दिखाई दे रहा था। महायुद्ध समाप्त हो जाने के बाद सम्राट की सर-

कार के पास कोई बहाना भी नहीं रहा था। अतः भारतीय समस्या को सुलझाने की दृष्टि से १४ जून सन् १६४५ को वाइसराय लार्ड वेवल ने नये प्रस्तावों की घोषणा की और कहा कि इन प्रस्तावों का उद्देश्य वर्तमान राजनैतिक स्थिति को शान्त बनाना और भारत को स्वशासन की ओर गतिशील करना है। सम्राट की सरकार चाहती है कि साम्प्रदायिक प्रश्न पर भिन्न-भिन्न दलों में समझौता हो जाय। इसी उद्देश्य से भारतीय नेताओं की एक कान्फ्रैंस बुलाई जाय। इस कान्फ्रैंस का तात्कालिक उद्देश्य यही है कि इसमें केन्द्रीय व्यस्थापिका सभा के निर्माण के प्रश्न पर विचार किया जाय। व्यवस्थापिका सभा में सभी प्रमुख जातियों के प्रतिनिधि होंगे तथा हिन्दू और मुसलमानों की संख्या बराबर-बराबर होगी। विदेश नीति का विभाग भारतीय सदस्य के पास रहेगा। गवर्नर-जनरल अपने अधिकारों का प्रयोग सोचविचार कर ही करेंगे और अन्य उपनिवेशों की भांति भारत में भी सम्राट की सरकार एक हाई कमिश्नर की नियुक्ति करेगी, जो ग्रेटब्रिटेन के व्यापारिक तथा अन्य हितों का प्रतिनिधित्व करेगा।

शिमला कान्फ्रैंस की असफलता

२५ जून को शिमला में यह कान्फ्रैंस बुलाई गई। सब प्रान्तों के मुख्य मन्त्रियों, केन्द्रीय धारासभा तथा कौंसिल आफ स्टेट के कांग्रेस, मुस्लिम लीग तथा नेशलिस्ट पार्टी और यूरोपियन ग्रुप के नेताओं को निमन्त्रित किया गया। इनके अतिरिक्त कांग्रेस, लीग, अकाली दल तथा हरिजनों के नेताओं के रूप में गांधीजी, मुहम्मदअली जिन्ना, मास्टर तारा-सिंह और श्री शिवराज को निमन्त्रण दिया गया। कान्फ्रैंस प्रारंभ हुई। गांधी जी चाहते थे कि गतिरोध किसी प्रकार समाप्त हो। अतः उनकी सम्मति से भूलाभाई देसाई ने, जोकि केन्द्रीय धारा-सभा दल के नेता थे, लीग के मन्त्री श्री लियाकतअली खाँ से इस बात पर समझौता कर लिया कि व्यवस्थापिका सभा में कांग्रेस और लीग के सदस्यों की संख्या बराबर-बराबर रहेगी। यद्यपि यह एक बहुत ही गलत कदम था और इसका अर्थ यह होता कि लीग और कांग्रेस दोनों बराबरी की संस्था हैं तथापि गांधीजी के आग्रह से दूसरे लोग चुप रहे। लेकिन श्री जिन्ना को तो सरकार की ओर

से प्रोत्साहन मिल रहा था। अतः उन्होंने आगे बढ़ कर यह मांग की कि कांग्रेस अपने को केवल हिन्दुओं की संस्था स्वीकार करले और आगामी वैधानिक बातचीत में भी इसी आधार पर निर्णय हो। कांग्रेस भला इसे कैसे मान सकती थी! वाइसराय ने भी श्री जिन्ना को समझाया लेकिन वह अपनीजिद पर अड़े रहे। परिणाम यह हुआ कि समझौता न हो सका और कान्फ्रैंस भंग हो गई।

मजदूर सरकार का आगमन और सरकारी घोषणा

इधर सन् १६४५ के जुलाई मास में ब्रिटेन में आम चुनाव प्रारंभ हुए। टोरी दल को अपनी सफलता की बड़ी आशा थी लेकिन चुनाव ने पांसा पलट दिया। टोरी दल के नेता श्री चर्चिल यद्यपि जीत गए तथापि उनका दल हार गया और शासन की बाग्डोर मजदूर-दल के हाथ में आगई। मजदूर-दल के नेता श्री एटली ने हाउस आफ कामन्स में कहा कि भारत ने मजदूर-दल की विजय के लिए प्रार्थना की थी। भारत को अब मजदूर-दल के द्वारा ही मुक्ति मिलेगी। उन्होंने यह आश्वासन दिया कि वह भारत की समस्या को साहस और ईमानदारी के साथ सुलझाने का प्रयत्न करेंगे। इधर इन्हीं दिनों रूस ने ८ अगस्त को जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। जर्मनी हार चुका था। अब सारी शक्ति जापान पर लगाई जारही थी। ८ अगस्त के दिन ही हिरोशिया पर एटम बम गिराया गया। एटम बम ने नगर का नाम-निशान तक शेष नहीं रहने दिया। बेचारा जापान इस धक्के से संभल भी नहीं पाया था कि नागासाकी पर दूसरा बम गिरा। इन दोनों बमों ने जापान की कमर तोड़ दी। उसने विवश होकर हथियार डाल दिए। अब गतिरोध के अधिक दिनों तक बने रहने का कोई कारण नहीं रहा। अतः मजदूर-सरकार ने लार्ड वेवल को बातचीत के लिए इग्लैंड बुलाया। इंग्लैंड से लौट कर लार्ड वेवल ने घोषणा की सन् १६४५-४६ के शीतकाल में शीघ्र ही प्रान्तीय धारा-सभा के प्रतिनिधियों से बातचीत करके यह तय किया जायगा कि उन्हें 'क्रिप्स प्रस्ताव' मंजूर है या किसी प्रकार के परिवर्तन और सुधार के बाद वे कोई दूसरी योजना पसन्द करेंगे। देशी राजाओं से भी बात की जायगी कि वे

किस आधार पर विधान-निर्मातृ-परिषद् में सम्मिलित हो सकेंगे। इस घोषणा के अन्त में यह भी कहा गया कि ब्रिटिश सरकार उस सन्धि के मुद्दों पर भी विचार कर रही है जो ब्रिटेन और भारत के बीच होगी।

इस घोषणा का भारत में चारों ओर स्वागत किया गया। भारत-मन्त्रि लार्ड पेथिक लारेन्स ने इन्हीं दिनों अपने एक रेडियो-भाषण में कहा कि १९४६ का वर्ष भारतीय इतिहास में बड़े महत्व का वर्ष रहेगा, क्योंकि सरकार ने भारत को आजाद करने का निश्चय कर लिया है। चुनाव के बाद जो मंत्रि-मण्डल बनेगा उसमें सभी दल के प्रतिनिधि होंगे।

इस घोषणा के बाद सारे देश में चुनाव की तैयारी प्रारंभ हो गई।

चुनाव

लाल किले में इन्हीं दिनों आजाद हिंद फौज के नेता मेजर जनरल शाहनवाज, सहगल और ढिल्लन पर मुकदमा चल रहा था, जिसकी पैरवी में पं० नेहरू बड़ी दिल-चस्पी ले रहे थे। अतः जनता में बड़ा जोश था। जोश और उत्साह के इसी वातावरण में चुनाव हुए। प्रांतीय और केन्द्रीय दोनों धारा-सभाओं में कांग्रेस की जबरदस्त विजय हुई। सीमाप्रान्त जैसे प्रान्त में, जिसमें ९५ प्रतिशत मुसलमान थे, कांग्रेस की ही विजय हुई। इस बार केवल बङ्गाल, पंजाब और सिन्ध को छोड़कर शेष सभी प्रान्तों में कांग्रेस के मंत्रि-मण्डल बने। पंजाब और सिंध में लीग को छोड़कर शेष दलों के मिले-जुले मन्त्रि-मण्डल बने और बङ्गाल में लीग का। इन चुनावों ने सिद्ध कर दिया कि कांग्रेस की शक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है और वही सबसे अधिक लोक-प्रिय संस्था है; लेकिन लीग को भी मुस्लिम स्थान प्राप्त करने में पूरी नहीं तो कुछ सफलता अवश्य मिली थी।

आजाद हिन्द फौज की कहानियों ने जनता में जो जाग्रति की लहर

नौ-सैनिक विद्रोह

फैलाई और उससे अंग्रेजों के प्रति विद्रोह की जिस भावना को पोषण मिला उसका व्यक्त रूप फरवरी मास में नौ-सैनिकों के विद्रोह के रूप में दिखाई दिया। बात यह हुई कि 'तलवार' नामक जहाज के एक गोरे अफसर ने भारतीय सैनिकों को 'कुत्ते का बच्चा', 'कुली का बचा' आदि कहकर गाली दी। सैनिकों को

बड़ा बुरा लगा। सैनिकों ने विरोध में हड़ताल कर दी और अपनी मांगें अधिकारियों के सामने रखीं। हड़ताल की यह लहर ऐसी फैली कि उसमें २० बड़े और १०० छोटे जहाजों के लगभग बीस हजार सैनिक सम्मिलित हो गए। विद्रोह कराची से सिंगापुर तक फैला और सैनिकों ने जहाजों पर अधिकार कर लिया। अब तो स्थिति विषम बन गई। सशस्त्र युद्ध हुआ। स्थिति बिगड़ते देख सरदार पटेल ने हस्तक्षेप किया। उनका कहना मानकर सैनिकों ने आत्म-समर्पण कर दिया। इस तरह स्थिति बड़ी कठिनाई से काबू में आई लेकिन जिन सैनिकों के बल पर अंग्रेज शासन कर रहे थे वे अब उनके पीछे आँख मूदकर नहीं चलेंगे, यह बात स्पष्ट होगई।

मन्त्रि-मंडल-मिशन

अब भारतीय समस्या को सुलझाने के लिए जल्दी करना आवश्यक हो गया। सम्राट की सरकार ने एक पार्लामेंट्री मिशन भेजकर देश की स्थिति को समझा। अब यह अनुभव कर लिया गया था कि यदि किसी अल्पमत वाले दल को बहुमत की प्रगति में बाधा डालने का अधिकार दिया गया तो उसे पहले की ही भाँति असफल होना पड़ेगा। अतः १५ मार्च १९४६ को ब्रिटिश प्रधान-मन्त्री ने यह बात स्पष्ट कर दी कि, "हम किसी अल्पमत को ऐसा निषेधाधिकार नहीं दे सकते कि वह बहुमत की प्रगति में बाधक बन सके।"

इधर २३ मार्च को वह मन्त्रि-मंडल-मिशन भारत आगया जिसके आगमन की घोषणा पहले भारत-मन्त्री ने की थी। इसके नेता थे सर स्टेफर्ड क्रिप्स। दो अन्य सदस्य थे लार्ड पेथिक लारेन्स और सर अलेक्जेंडर। मन्त्रि-मंडल-मिशन के सामने दो प्रमुख कार्य थे। पहला यह कि एक ऐसे समझौते के लिए बात-चीत प्रारम्भ करना, जिसके आधार पर भारत का विधान बनाया जा सके और दूसरे एक अन्तर्कालीन सरकार का निर्माण करना। लेकिन इस काम में उसे काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। अब तक अल्पमत के साथ सरकार ने बहुत-से वादे किये थे। वे वादे ही अब बाधक होने लगे। लीग ने पाकिस्तान की मांग रखी और कहा कि यदि वह न मानी गई तो उसे सीधी कार्रवाही करनी पड़ेगी। सभी बड़े-बड़े लीगी नेता साम्प्रदायिक आग भड़काने वाले भाषण देने

लगे। लीग के एक सम्मेलन में, जो अप्रैल में हुआ, श्री चुन्द्रीगर ने कहा, "जिस जाति पर हम पिछले पाँच हजार वर्ष से राज्य करते आ रहे हैं उसी के अधीन हमें बना देने का अंग्रेजों को कोई अधिकार नहीं है।" इसी तरह किसी ने 'जिहाद' का नारा लगाया और किसी ने चंगेज़खां के दिन फिर ला देने की धमकी दी। इस सम्मेलन में जो प्रस्ताव पास किया गया था उसमें कहा गया था कि, "मुस्लिम राष्ट्र अखण्ड भारत के विधान को किसी हालत में स्वीकार नहीं करेगा और न वह उस उद्देश्य से बनाई हुई विधान-निर्मातृ-परिषद् में ही भाग लेगा।" सम्मेलन में मांग की गई कि पूर्व में आसाम और बंगाल को तथा पश्चिम में सीमान्त प्रान्त, पंजाब, सिंध और बिलोचिस्तान को मिलाकर दो सर्वतन्त्र स्वतन्त्र राज्य बनाये जायं। इस प्रकार इस प्रदेश तथा हिंदुस्तान दोनों के लिए अलग-अलग विधान-निर्मातृ-परिषदें बनाई जांय। जब तक यह मांग पूरी नहीं की जायगी लीग अन्तरिम सरकार में सम्मिलित नहीं होगी।

२५ मार्च को दिल्ली की एक प्रेस-कान्फ्रैंस में मन्त्रि-मंडल-मिशन के सदस्यों ने यह स्पष्ट कर दिया कि वह किसी विशेष दृष्टिकोण से बंधे हुए नहीं हैं। वे प्रत्येक समस्या पर खुले मस्तिष्क से विचार करेंगे। यद्यपि उनके इस वक्तव्य से कांग्रेसी दल में आशा पैदा हुई, लेकिन लीग ने अपनी जिद्द से स्थिति को काफी गम्भीर बना दिया। मन्त्रि-मंडल-मिशन ने प्रारम्भ में वाइसराय और गवर्नरों से बातचीत की और उसके बाद १ अप्रैल से भारतीय नेताओं के साथ उनकी बातचीत प्रारम्भ हुई। उन्होंने ४७२ नेताओं से बातचीत की और समस्या का हल ढूंढ़ने का प्रयत्न किया, लेकिन कांग्रेस और लीग में कोई समझौता नहीं हो सका। मिशन ने ईमानदारी के साथ समस्या का हल ढूँढ़ने का पूरा प्रयत्न किया। उसने समझौते के आधार के रूप में यह योजना रखी कि केन्द्र में एक संघ सरकार हो, जिसके पास विदेश-नीति, प्रतिरक्षा और यातायात के महकमे हों तथा उसके मातहत दो प्रकार के प्रांत हों—एक हिन्दू बहुमत वाले और दूसरे मुस्लिम बहुमत वाले, जो शेष मामलों में स्वतन्त्र हों। लेकिन मुस्लिम लीग ने देश के विभाजन की अपनी नई योजना मिशन के सामने रखी। मिशन को यह

योजना बिल्कुल पसन्द नहीं आई। अब १६ मई को मिशन ने एक और योजना प्रस्तुत की। इस योजना का सार इस प्रकार था :

१. भारत का एक ऐसा संघ बने, जिसमें ब्रिटिश भारत तथा रियासतें दोनों हों। संघ के हाथों में विदेश-नीति, प्रतिरक्षा और यातायात के विभाग हों और उसे इस बात का अधिकार हो कि इसके लिए जिस धन की आवश्यकता हो वह उसका प्रबन्ध कर सके।

२. ब्रिटिश भारत और रियासतों के प्रतिनिधियों से बनी हुई एक धारा-सभा तथा एक व्यवस्थापिका सभा हो। यदि किसी विषय में कोई बड़ा साम्प्रदायिक प्रश्न धारा-सभा में उपस्थित हो तो उसके निर्णय के लिए उपस्थित प्रतिनिधियों के बहुमत तथा दोनों बड़े सम्प्रदायों के मत की आवश्यकता होगी।

३. संघ के विषयों के अतिरिक्त सारे विषय प्रांतों के हाथ में रहेंगे।

४. संघ को जो सत्ता दी गई है, उसके अतिरिक्त शेष सत्ता प्रांतों के पास रहेगी।

५. प्रांत इस बात के लिए स्वतन्त्र रहेंगे कि वे धारा-सभाओं तथा व्यवस्थापिका सभाओं के साथ समूह बनाएं। प्रत्येक समूह को इस बात का अधिकार होगा कि वह एक साथ जिन प्रान्तीय विषयों को चाहे ले ले।

(वे तीन समूह इस प्रकार बनेगें :—

समूह (अ)—मद्रास, बम्बई, उत्तर-प्रदेश, बिहार, मध्य-प्रदेश, उड़ीसा,

" (ब)—पंजाब, सिंध और सीमा-प्रान्त।

" (स)—बंगाल और आसाम।)

६. संघ तथा समूहों के विधान में ऐसी व्यवस्था होगी कि वह धारा-सभा की बहु-संख्या से प्रारंभ में हर दसवें वर्ष विधान के पुनर्विवेचन की मांग रख सकेंगे।

विधान-निर्मातृ-परिषद् के निर्माण के लिए उन्होंने निम्नलिखित योजना सुझाई :

(अ) प्रत्येक प्रान्त को प्रति दस लाख की आबादी पीछे विधान-सभा में एक स्थान दिया जाय।

(आ) प्रमुख सम्प्रदायों को प्रान्त में उनकी आबादी के अनुपात से स्थान दिये जायं।

(इ) प्रत्येक सम्प्रदाय के लिए जो स्थान निश्चित किये गए हों वे उस प्रान्त की धारा-सभा के उसी सम्प्रदाय के प्रतिनिधियों द्वारा चुने जायं।

इस प्रस्ताव के आधार पर बातचीत प्रारंभ हुई। इसमें कोई शक नहीं कि उस स्थिति में इससे अच्छे प्रस्ताव नहीं रखे जा सकते थे। इन प्रस्तावों में मिशन ने ईमानदारी के साथ हिन्दू और मुस्लिम हितों का सन्तुलन बनाने का प्रयत्न किया था। लेकिन दुख है कि प्रस्ताव पर पूरी तरह विचार नहीं किया गया। कांग्रेस कार्यसमिति ने अपने प्रस्ताव में कहा : "हमारा लक्ष्य यह है कि स्वतन्त्रता प्राप्त की जाय, सीमित अधिकार होने पर भी केन्द्र में शक्तिशाली सरकार की स्थापना की जाय, प्रान्तों को पूर्ण स्वायत्त शासन दिया जाय, केन्द्र तथा देश के अन्य हिस्सों में लोकतान्त्रिक व्यवस्था हो...। कार्यसमिति को दुख है कि इस उद्देश्य के साथ ब्रिटिश सरकार के प्रस्ताव का सामञ्जस्य नहीं है," और उसने प्रस्ताव को ठुकरा दिया। इधर मुस्लिम लीग ने श्री जिन्ना के इस आश्वासन पर कि : "आप मुझ पर भरोसा रखें, यह पाकिस्तान की दिशा में पहला कदम है," प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। इसके बाद फिर वाइसराय नेताओं से बातचीत करते रहे। वह चाहते थे कि शीघ्र ही अन्तर्कालीन सरकार की स्थापना हो जाय लेकिन वह संभव नहीं हुआ। कांग्रेस कार्यसमिति ने अपनी २६ जून की बैठक में विधान-परिषद में भाग लेना स्वीकार कर लिया, और योजना को भी स्वीकार कर लिया लेकिन उधर मुस्लिम लीगने उसे अस्वीकार कर दिया। २९ जून को मन्त्रि-मण्डल-मिशन भारी मन से लौट गया।

अब मुस्लिम लीग और कांग्रेस के सम्बन्ध काफी बिगड़ चुके थे।

लीग की सीधी कार्रवाई

लीग को जब यह दिखाई देने लगा कि उसकी पाकिस्तान की मांग स्वीकार नहीं की जा सकेगी तो उसने दूसरा रास्ता अख्तियार किया। अपनी २९ जुलाई सन् १९४६

की बैठक में उसने कांग्रेस की कड़ी आलोचना की और कहा कि वह 'हिन्दू राज्य' स्थापित करने पर तुली हुई है। अतः अब समय आगया है जब कि मुस्लिम-राष्ट्र को पाकिस्तान प्राप्त करने के लिए सीधी कार्रवाई शुरू कर देना चाहिए। श्री जिन्ना ने अपने भाषण में कहा कि अब हम वैधानिक तरीकों को नमस्कार कर रहे हैं। मजे की बात यह थी कि यह सीधी कार्रवाई अंग्रेजों के विरुद्ध न हो कर कांग्रेस के कल्पित हिन्दू-राज्य के विरुद्ध थी। १६ अगस्त के दिन सारे देशमें लीग ने सीधी कार्रवाई-दिवस मनाया। बंगालमें लीग का मन्त्रि-मण्डल था। अतः वहीं सीधी कार्रवाई की तैयारियां जोर-शोर से हो रही थीं। मुसलमान हर तरह से भीतर-ही-भीतर तैयारियां कर रहे थे। कलकत्ता में उन्होंने भयंकर रूप से हिन्दुओं की हत्या प्रारंभ कर दी। सरकार तो लीग की ही थी, अतः उसने हिन्दुओं को पुलिस की मदद बिलकुल नहीं लेने दी। बेचारे हिन्दू तीन दिन तक बुरी तरह मारे गए और जब वह तीन दिन के बाद आत्मरक्षा के लिए खड़े हुए तो पुलिस ने हस्तक्षेप प्रारंभ कर दिया। तीन दिन तक कलकत्ता में साम्प्रदायिकता का यह नंगा नाच बड़ी स्वतन्त्रता से हुआ। कलकत्ता में जब लोग सचेत हुए तो यह आग ग्रामों में फैली। सारी नैतिकता को ताक में रख कर लीग के बहादुर सिपाही हत्या, अपहरण, लूट-अग्नि-काण्ड और मारकाट के करतब दिखाने लगे। ऐसा प्रतीत होने लगा जैसे मानवता का अन्त हो गया है। इस पागलपन का सबसे बड़ा शिकार हुआ नोआखली। वहां लीग के अनुयायियों ने संगठित रूप से हिन्दुओं का वध किया। उन्होंने अनेक हिन्दू स्त्रियों का अपहरण किया और लोगों को जबरदस्ती मुसलमान बनाया। पुलिस तो उनकी अपनी ही थी, उसने हिन्दुओं की रक्षा करने के बजाय आततायियों की ही मदद की। लोग अपने गांव छोड़-छोड़ कर भागने लगे। देश भर में इस समाचार से बेचैनी फैली। जब यह समाचार गांधीजी को मिला तो वह सब काम छोड़ कर बंगाल पहुंचे। उन्होंने पैदल यात्रा प्रारंभ की और वह अपने साथियों के साथ नोआखली के ग्रामों में लोगों को एकता और प्रेम का सन्देश देते रहे। इधर यह आग बिहार में फैली। वहां मुसलमान मारे गए लेकिन वहां तो कांग्रेसी सरकार ने बड़ी

सतर्कता से काम लिया और दंगाइयों को दबा दिया। गांधीजी अपने प्राण की बाजी लगा कर इस आग को बुझाने का प्रयत्न करते रहे लेकिन वह इतनी फैल गई कि जल्दी बुझती हुई नहीं दिखाई दे रही थी।

अन्तर्कालीन सरकार

इधर वाइसराय और कांग्रेस के बीच जो बातचीत चल रही थी उसके परिणामस्वरूप कांग्रेस ने अन्तर्कालीन सरकार में भाग लेना स्वीकार कर लिया। २ सितम्बर के दिन पं० जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में कांग्रेस ने पद-ग्रहण किया। इससे जहाँ कांग्रेसियों ने प्रसन्नता व्यक्त की वहां मुसलमानों ने हड़ताल रखी और काले झण्डे दिखाये। लेकिन कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डल ने अपना काम बड़ी बुद्धिमानी से प्रारम्भ कर दिया। थोड़े दिन बाद जब लीग ने देखा कि उसने अलग रहकर अच्छा नहीं किया तो अपनी अड़ंगा-नीति को सफल बनाने के लिए उसने भी अन्तर्कालीन सरकार में आना स्वीकार कर लिया।

मेरठ कांग्रेस

दंगों के वातावरण में ही मेरठ कांग्रेस का अधिवेशन आचार्य कृपालानी की अध्यक्षता में प्रारंभ हुआ। अब दंगों की लपटें बिहार से आगे बढ़कर उत्तर-प्रदेश में भी फैल रही थीं। मेरठ के पास गढ़मुक्तेश्वर में इन्हीं दिनों दंगा हुआ। अतः अधिवेशन शानदार न हो सका। आचार्य कृपालानी ने अपने विद्वत्तापूर्ण भाषण में अन्य बातों के साथ यह भी कहा कि : "इन दंगों के कारण कांग्रेस की प्रतिष्ठा घटने के बजाय बढ़ी ही है।" नेहरूजी ने एक सनसनीदार घोषणा की और कहा कि "वाइसराय और लीग के षड्यन्त्र के कारण अन्तर्कालीन सरकार की स्थिति बिगड़ती जा रही है। वह किसी भी समय बाहर आ सकते हैं और कांग्रेस को संघर्ष छेड़ना पड़ सकता है।"

लन्दन कांफ्रैंस

बात ठीक थी। लीग अपनी अड़ंगा-नीति पर दृढ़ थी और सरकार के काम में सहयोग के बजाय बाधाएं डाल रही थी। उसने मिशन के प्रस्तावों को स्वीकार नहीं किया था और वाइसराय ने बिना इसके ही उन्हें अन्तर्कालीन सरकार में ले लिया था। उसकी बेजा हरकतों पर कोई रोक नहीं थी। बल्कि उल्टा उसे प्रोत्सा-हन मिल रहा था। इधर ६ दिसम्बर के दिन विधान-परिषद् का अधिवेशन

प्रारम्भ हो रहा था। स्थिति को संभालने की दृष्टि से श्री एटली ने लदंन में एक कांफ्रैंस बुलाई। पं० नेहरू ने लन्दन जाने से इन्कार कर दिया और कहा कि वहां जाने का अर्थ है सब बातों पर फिर से विचार करना, जिसके लिए मैं तैयार नहीं हूँ। श्री एटली ने उनकी शंकाओं को मिटाने के लिए यह आश्वासन दिया कि वह कांफ्रैंस इसी दृष्टि से बुला रहे हैं कि विधान-सभा का अधिवेशन ठीक तरह प्रारंभ हो। इसमें उनका यह उद्देश्य नहीं है कि विधान-सभा स्थगित कर दी जाय या मन्त्रि-मण्डल-मिशन की योजना को त्याग दिया जाय। इस आश्वासन पर नेहरूजी ने लन्दन जाना स्वीकार कर लिया, लेकिन श्री जिन्ना ने कहा कि यदि आप पं० नेहरू को ये आश्वासन दे देते हैं तो मेरा आना व्यर्थ है। श्री एटली ने उनको भी समझाया। दोनों नेता अपने साथियों के साथ लन्दन पहुंचे। ३ से ६ दिसम्बर तक बातचीत होती रही लेकिन कोई परिणाम नहीं निकला। आखिर दोनों खाली हाथ लौट आये।

विधान-सभा का अधिवेशन

अपने पूर्व निश्चय के अनुसार ६ दिसबंर को विधान-सभा की कार्यवाही प्रारंभ होने वाली थी लेकिन ६ दिसबंर को ब्रिटिश सरकार ने घोषणा की कि प्रान्तों का सामूहीकरण मानकर ही विधान-सम्मेलन काम कर सकता है। सरकार इस प्रकार बने हुए विधान को उन लोगों पर जबरदस्ती नहीं लाद सकती जो उसे नहीं चाहते हैं। इस घोषणा ने विधान-परिषद् के महत्व को बहुत कम कर दिया। यह घोषणा विधान-परिषद् की प्रभुता पर हस्तक्षेप था; लेकिन कांग्रेस ने इसकी परवाह किये बिना अपना काम चालू रखा। विधान-परिषद् में सारे लीगी प्रतिनिधि अनुपस्थित थे। डा० सच्चिदानन्द सिन्हा के सभापतित्व में उसका काम प्रारंभ हुआ। बाद में स्थायी रूप से डा० राजेन्द्रप्रसाद उसके सभापति चुन गए। विधान-सभा ने विभिन्न कार्यों के लिए उप-समितियां बना दीं और उन्हें काम सौंप दिया। इस प्रकार विधान-निर्माण का काम अनेक बाधाओं के बावजूद प्रारंभ हो गया।

लीग की साम्प्रदायिक नीति से देश का वातावरण बड़ा ही विषैला बन गया था। अब पंजाब में उसने अवज्ञा-आंदोलन छेड़ दिया, जिससे वहां

सरकार का काम ठप्प-सा हो गया था। सन् १९४७ के मार्च और अप्रैल महीनों में वहां जबरदस्त मार-काट होती रही। अंग्रेजों की अनिश्चित नीति ही इन सब बातों के लिए उत्तरदायी थी। स्थिति को बिगड़ते हुए देखकर २० फरवरी के दिन सरकार ने घोषणा की कि सन् १९४८ के जून मास तक उसने भारतीय प्रतिनिधियों के हाथ में सत्ता सौंप देने का निश्चय कर लिया है। घोषणा में श्रीएटली ने कहा कि इस अनिश्चित स्थिति से बड़े-बड़े खतरे पैदा हो सकते हैं। अतः इसे और ज्यादा समय तक चालू नहीं रखा जा सकता। इस घोषणापर टिप्पणी करते हुए गांधीजी ने कहा : "यह अंग्रेजों का एक सर्व-श्रेष्ठ कार्य है। लेकिन यदि वह आज ही भारत छोड़ दें तो वह बहुत अच्छा होगा। १३ महीनों के लम्बे समय का मतलब है भारत के प्रति शैतानी। मैं न तो ब्रिटिश घोषणा की श्रेष्ठता पर सन्देह करता हूँ और न वाइसराय की ईमानदारी पर। लेकिन सत्य तो सत्य ही है। और सत्य यह है कि भारत को हमेशा अंग्रेजों का मुंह ताकने की शिक्षा दी गई है। भारत को अराजकता की स्थिति में छोड़ने का खतरा उठाना ही पड़ेगा। अगर अंग्रेज यहां नहीं होते तो भी हमें अग्नि-परीक्षा देनी ही होती; लेकिन उससे हमारी शुद्धि होती।"

भारत छोड़ने की घोषणा

ब्रिटिश सरकार ने इस नई नीति को कार्यान्वित करने के लिए लार्ड माउन्टबेटन को वाइसराय बनाकर भेजा। वह २३ मार्च १९४६ को भारत आये और ईमानदारी से अपने काम में लग गए। उन्होंने स्थिति का अध्ययन करके जान लिया कि लीग-विधान सभा में सम्मिलित नहीं होगी। इधर देश में साम्प्रदायिकता का जो जहर फैल रहा था उससे कांग्रेस की भी यही धारणा हो गई कि यदि मुस्लिम बहुमत वाले प्रदेश अलग होकर पाकिस्तान बनाते हैं तो उन्हें बनाने देना चाहिए। अतः इस नई दृष्टि से मन्त्रि-मण्डल-मिशन के प्रस्ताव में संशोधन कर दिया गया। श्री जिन्ना को इस बात के लिए विवश किया गया कि वह आबादी के आधार पर बने हुए कटे-छटे पाकिस्तान को स्वीकार कर लें। जब यह सब निश्चित हो गया तो ३ जून के दिन वाइसराय ने घोषणा की कि १५ अगस्त को

सत्ता-हस्तान्तरण कर दिया जायगा और भारत दो टुकड़ों में बंट जायगा। पंजाब और बंगाल का आबादी के आधार पर विभाजन करने के लिए एक सीमा-कमीशन की नियुक्ति की गई और सिलहट को आसाम से अलग करके पूर्वी बंगाल के साथ जोड़ दिया गया। देशी राज्यों को इस बात की स्वतन्त्रता दे दी गई कि वे जिसके साथ चाहें मिल जायं। यद्यपि गांधीजी अखण्ड भारत के ही पक्षपाती थे; लेकिन पं० नेहरू और सरदार पटेल के आग्रह के सामने वह चुप रहे। उनको विभाजन से बड़ा दुख हुआ। जिस अखण्ड भारत के लिए उन्होंने जीवन भर श्रम किया और जिसके स्वप्न वह आजतक देखते रहे वही देखते-देखते खण्ड-खण्ड हो गया। उन्हें ऐसा लगा मानो उनके कलेजे के दो टुकड़े हो गए।

सत्ता भारतीय हाथों में

उपर्युक्त घोषणा के अनुसार १५ अगस्त सन् १९४७ को सत्ता भारतीय हाथों में सौंप दी गई। युगों की बेड़ियां झन-झनाकर गिर पड़ीं। देश में हर्ष की लहर दौड़ गई। अंग्रेजों का यह कार्य स्तुत्य था। इस कार्य के द्वारा उन्होंने अपनी बड़ी दूर दृष्टि और राजनीतिज्ञता का परिचय दिया था। स्थिति यह थी कि महायुद्ध के कारण ब्रिटेन अपनी बहुत-सी शक्ति खो चुका था और पूर्व में जो स्वतन्त्रता की लहर उठी थी उसे रोकना बड़ा कठिन था। आजाद हिन्द फौज और नौ-सेनिक विद्रोह ने यह सिद्ध कर दिया था कि अब भारत पर सेना के भरोसे शासन नहीं किया जा सकता। इस कदम से अंग्रेजों ने सद्भावना का वातावरण बनाया और दूसरी ओर अपने व्यापारिक हितों की भी रक्षा कर ली। लेकिन उस समय देश में जो दंगों की लपटें तेजी से फैल रही थीं उससे आजादी मिलने की वह प्रसन्नता न रही, जो शान्त वातावरण में होती। इस स्थिति को देखकर कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ के ये शब्द याद आ जाते हैं :

"भाग्य का चक्र एक-न-एक दिन अंग्रेजों को अपना साम्राज्य छोड़ने के लिए विवश कर देगा। लेकिन वे अपने पीछे कैसा भारत छोड़ेंगे, कितनी मुसीबतें छोड़ जायंगे ? जब उनका शताब्दी से बहता हुआ शासन

का झरना अन्त में सूखने लगेगा तब वे कितनी गन्दगी, कितना कीचड़ पीछे छोड़ जायंगे ?"

: २३ :

पाकिस्तान कैसे बना ?

मुस्लिम राजनीति का विकास

जिस मुस्लिम राजनीति के परिणामस्वरूप कांग्रेस के कड़े विरोध के बावजूद पाकिस्तान का जन्म हो कर ही रहा यदि उसके विकास पर हम यहां एक अलग अध्याय में विचार करलें तो वह अनुचित न होगा । जब मुस्लिम मनोवृत्ति पर हम दृष्टि डालते हैं तो हमें दो बातें स्पष्ट दिखाई देती हैं, पहली उनकी संकुचित साम्प्रदायिकता और दूसरी हिन्दुओं से अलग रहने की वृत्ति। राष्ट्रीयता की भावना ने बार-बार उन पर असर डालने का प्रयत्न किया लेकिन दुख है कि वह इन पर विजय पाने में असफल रही। इसके कई कारण थे। पहला कारण था धार्मिक और आर्थिक क्षेत्रों में असमानता। हिन्दुस्तान के जिन भागों में हिन्दुओं का बहुमत था वहाँ मुसलमानों की स्थिति काफी गिरी हुई थी। अतः वहां उनका नेतृत्व उन मुसलमानों के हाथों में आया, जो उनसे अधिक धनी और सम्पन्न थे। दूसरी ओर पंजाब, बंगाल और सिन्ध जैसे प्रान्तों में, जहां मुसलमानों का बहुमत था, वहां भी अधिकांश मुसलमान किसान और मजदूर के ही रूप में थे और हिंदू जमीदारों और साहूकारों के कारण शक्तिहीन होते जा रहे थे। दूसरा बड़ा कारण था सरकारी प्रतिष्ठा और नौकरियों की दौड़ में मुसलमानों का पिछड़ जाना। हिंदू स्वभावतः अधिक कुशाग्र बुद्धि होने के कारण जल्दी अंग्रेजी सीख गए थे और उन्होंने मुसलमानों से बहुत अधिक स्थान प्राप्त कर लिये थे। हिन्दुओं की इस अच्छी स्थिति का ही मुसलमानों पर यह मनोवैज्ञानिक प्रभाव हुआ कि हिन्दू बहुमत के अत्याचार और अन्याय का एक कल्पित भय उनके मन में बैठ गया। मुसलमानों के नेता बड़े-बड़े सरकारी पद और प्रतिष्ठा पाने के लिए इसी भय का दुरुपयोग करते रहे। तीसरा बड़ा कारण

था अंग्रेजों की भेद-नीति। जैसे-जैसे राष्ट्रीय आन्दोलन बढ़ा और उससे प्रभावित होकर अंग्रेजों को शासन-सत्ता भारतीयों के हाथ में सौंपने के लिए विवश होना पड़ा वैसे-वैसे उन्होंने भी इस विरोध और तनाव को बढ़ाने का ही प्रयत्न किया ताकि इसकी आड़ में वे अपना मतलब साधते रहें। मिन्टो-मार्ले सुधार में साम्प्रदायिक निर्वाचन को स्थान देकर अंग्रेजों ने राष्ट्रीयता पर एक बहुत बड़ा आघात किया। इतना ही नहीं उन्होंने यह घातक प्रणाली आगे भी कायम रखी। इस नीति से मुसलमानों की भय की मनोवृत्ति को पोषण मिलता रहा।

हिन्दू-मुस्लिम तनाव

प्रतिक्रियावादी मुसलमान नेताओं को सन् १९२४-२६ के हिन्दू-मुस्लिम दंगों से बड़ा बल मिला। उन्होंने इससे बड़ा लाभ उठाया। इन दिनों लगभग ५०० व्यक्ति इन दंगों की भेंट हुए, घायलों की संख्या तो पांच हजार तक पहुंच गई थी। इसके बाद आगामी डेढ़ वर्ष में अर्थात् सन् १९२७ के सितम्बर मास से सन् १९२८ के जून तक ये दंगे और अधिक व्यापक और भयंकर बने और इन्होंने मद्रास को छोड़ कर शेष सारे भारत पर प्रभाव डाला। इन दिनों लगभग २५० व्यक्ति मरे और ढाई हजार व्यक्ति घायल हुए।

साइमन कमीशन

इन दंगों से स्थिति बिगड़ती जा रही थी। फिर भी मुस्लिम लीग में साइमन कमीशन के पहले तक राष्ट्रीय-तत्वों की प्रधानता थी। साइमन कमीशन ने, जो सन् १९२७ में नियुक्त हुआ था, सम्प्रदायवादियों को अपना पलड़ा भारी बनाने का अच्छा मौका दे दिया। इसी वर्ष जब लीग का अधिवेशन हो रहा था तब इन सम्प्रदायवादियों ने उसके मुकाबले में एक अलग अधिवेशन किया और उसमें सर जफरुल्ला ने एक प्रस्ताव रखकर साइमन-कमीशन का स्वागत किया। इस अधिवेशन के सभापति थे श्री सर मुहम्मद-शफी। सम्प्रदायवादियों की शक्ति बढ़ती गई। उनका दल शफी-लीग के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसी शफी-लीग ने बाद में एक सर्वदलीय मुस्लिम कांफ्रेंस का आयोजन किया जिसमें मुस्लिम लीग भी सम्मिलित हुई। इन्हीं दिनों नेहरू-रिपोर्ट प्रकाशित हुई। उलेमा लोग उससे बड़े नाराज थे।

मिर्जा बशीरुद्दीन महमूद अहमद ने नेहरू-रिपोर्ट को ठुकराते हुए कहा था कि हिन्दू-राज्य की स्थापना मुस्लिम-राज्यों के लिए एक बड़ा दुर्भाग्य का दिन होगा। राष्ट्रीय मुसलमान नेहरू-रिपोर्ट के पक्ष में थे लेकिन इन लोगों ने उनको भी अपने पक्ष में कर लिया और अपनी मांगें इस प्रकार रखीं :

१. पूर्ण स्वतन्त्र संघीय सरकार की स्थापना, जिसमें शेष सत्ता प्रान्तों के पास हो ताकि प्रत्येक संप्रदाय को उन्नति का पूरा मौका मिल सके।

२. बहुमत से अल्पमत की रक्षा करने के लिए उनका विशेष प्रतिनिधित्व।

३. पृथक मताधिकार।

४. सुधारों को सीमाप्रांत और बिलोचिस्तान पर भी लागू करना।

५. विधान में मुस्लिम अधिकारों की सुरक्षा की व्यवस्था।

लीग में संप्रदायवादियों का यह प्रभाव इतना बढ़ा कि राष्ट्रीय मुसलमानों के लिए उसमें रहना कठिन हो गया। उन्होंने विवश होकर नेशनलिस्ट मुस्लिम पार्टी नामक अपना एक अलग दल बनाया। सरकार तो संप्रदायवादियों को प्रोत्साहन दे रही थी। साइमन कमीशन के भारत आने पर तत्कालीन भारत-मन्त्री लार्ड बर्कनहेड ने वाइसराय को लिखा था कि कमीशन को उन लोगों से अवश्य मिलना चाहिए जो उसका बहिष्कार नहीं कर रहे हैं। इनमें मुस्लिम लीगी ही प्रमुख थे।

श्रीजिन्ना के १४ मुद्दे

इस समय श्री जिन्ना लीग में नरम पक्ष के नेता थे। सन् १९२९ में लीग के दिल्ली-अधिवेशन में उन्होंने अपने १४ मुद्दे रखे। इन मुद्दों पर सभी विचारों के मुसलमान एकमत हो गए और गोलमेज परिषद् में उन्होंने इन्हीं मुद्दों के आधार पर बातचीत की। वे इस प्रकार हैं :

१. भावी विधान का स्वरूप संघीय हो तथा शेष सत्ता प्रांतों के पास हो।

२. सारे प्रांतों को एक ही प्रमाण में स्वशासन दिया जाय।

३. सब धारा-सभाओं में अल्पमत का पर्याप्त प्रतिनिधित्व हो, लेकिन इसके लिए न तो बहुमत को अल्पमत बनाया जाय, न उन दोनों को

समान ही किया जाय।

४. केन्द्रीय धारा-सभाओं में मुसलमानों का प्रतिनिधित्व १/३ से कम न हो।

५. विभिन्न संप्रदायों को पृथक् निर्वाचन के द्वारा ही प्रतिनिधित्व दिया जाय।

६. पंजाब, बंगाल और सीमा-प्रांत का यदि कोई पुनर्वितरण हो तो उसका मुस्लिम बहुमत पर कोई असर न हो।

७. सब संप्रदायों को पूरी धार्मिक स्वतन्त्रता दी जाय।

८. यदि इस संस्था में किसी संप्रदाय के तीन-चौथाई सदस्य किसी प्रस्ताव या बिल का यह कह कर विरोध करें कि वह उस संप्रदाय के लिए घातक है, तो वह पास न हो।

९. सिंध को बंबई प्रांत से अलग कर दिया जाय।

१०. दूसरे प्रांतों की भांति सीमाप्रान्त और बिलोचिस्तान में भी सुधार किया जाय।

११. मुसलमानों को सरकारी नौकरियां तथा स्वशासन-प्राप्त संस्थाओं में पर्याप्त हिस्सा देने की व्यवस्था विधान में की जाय।

१२. विधान में मुसलमानों की भाषा, संस्कृति, शिक्षा और धर्म की सुरक्षा तथा उन्नति के लिए पर्याप्त संरक्षण प्रदान किया जाय।

१३. केन्द्र या प्रान्तों में एक-तिहाई मुसलमान मन्त्रियों के बिना मंत्रि-मंडलों का निर्माण न हो।

१४. केन्द्रीय धारा-सभा संघ के राज्यों की स्वीकृति के बिना विधान में कोई परिवर्तन न करे।

इन मांगों के बारे में विशेष कहने की आवश्यकता नहीं है। इनका उद्देश्य केवल मुसलमानों के अधिकारों की सुरक्षा नहीं था। वे तो सत्ता की लड़ाई का श्रीगणेश थीं। इन मुद्दों में नेहरू-रिपोर्ट की प्रत्येक बात का विरोध किया गया था। उन दिनों मुसलमानों के मन में जो कुछ चल रहा था उसको स्पष्ट करते हुए श्री ब्रेल्सफोर्ड ने लिखा है : "इस खींच-तान (हिन्दू-मुस्लिम) ने भारत की स्वतन्त्रता को वर्षों के लिए स्थगित

कर दिया है। यह एक ऐसा सबसे बड़ा खतरा है जिसको स्वशासित भारत को उठाना पड़ेगा। मैंने मुसलमानों को बड़ी मौज के साथ यह कहते हुए सुना है कि वे पंजाब, सिंध और सीमा-प्रांत में स्वशासन की स्थापना करके वहां से बड़ी सरलता से सारे हिंदुस्तान को जीत लेंगे।"

गोलमेज परिषद्

आगामी वर्षों में गोलमेज परिषद् का नाटक हुआ, जिसने सम्प्रदायवादी मुसलमानों को बड़ा प्रोत्साहन दिया। परिषद् में गये हुए मुसलमान प्रतिनिधि आगाखाँ के नेतृत्व में प्रतिक्रियावादी अंग्रेजों से मिल गए और उन्होंने उस 'यूरोपियन असोसिएशन' से समझौता कर लिया जो नेहरूजी के शब्दों में "भारतीय स्वतन्त्रता का सबसे अधिक शक्तिशाली शत्रु था।" सरकार ने भी यही प्रयत्न किया कि हिंदू-मुसलमानों में कोई समझौता न होने पाए। इस उद्देश्य से तीसरी गोलमेज परिषद् में मुसलमानों को केन्द्रीय धारा-सभा में एक तिहाई प्रतिनिधित्व देने की घोषणा की गई, और सिंध को एक अलग प्रांत बना दिया गया। बाद के वर्षों में भी उसकी यही नीति रही। इतना ही नहीं, वह मुसलमानों के लिए एक अलग राज्य के निर्माण की बात भी गम्भीरता से सोचने लगी।

सन १९३५ का एक्ट और उसके बाद

सन् १९२८ से ३२ तक के वर्षों में जब गांधीजी के आन्दोलनों के परिणामस्वरूप देश में राष्ट्रीयता की जबरदस्त लहर उठी तो सरकार चौंकी और उसने धर्म और जातीयता को प्रोत्साहन देकर उसे कुचलने का प्रयत्न किया। सन् १९३५ के एक्ट के बाद यह खाई और चौड़ी होती गई और मुसलमान एक के बाद एक विकट मांग रखने लगे। सन् १९३७ में कांग्रेस पदग्रहण इस दृष्टि से एक बहुत बड़ी भूल थी। कांग्रेस गई तो इसलिए थी कि वह वहां जाकर सरकार को कमजोर बनायगी लेकिन स्वयं कमजोर बन गई। यदि उसने अलग रहकर सम्प्रदायवादियों को पद-ग्रहण का अवसर दिया होता तो उनकी शक्ति धारासभा में समाप्त होगई होती और आगामी वर्षों में उन्होंने जो उलझनें पैदा कीं वह टल गई होतीं। लेकिन